☐ पुस्तक
सरल भावना-बोध

☐ रचयिता
गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

☐ सम्प्रेरक
जिनेन्द्र मुनि, काव्यतीर्थ

☐ सम्पादक
पण्डित नेमीचन्दजी पुगलिया

☐ प्रस्तावना
डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०

☐ अर्थसहयोग
श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
मदनगंज-किशनगढ, जि० अजमेर [राज०]

☐ प्रथम संस्करण
वि० स० २०३४ कार्तिक पूर्णिमा, लोकाशाह जयती,
नवम्बर, १९७७

☐ प्रकाशक
अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर [राज०]

☐ प्राप्ति-स्थल
हरिसिंह चौधरी
अमर जैन साहित्य संस्थान
पो० गुलाबपुरा, जि० भीलवाडा [राज०]

☐ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

☐ मूल्य सात रुपये मात्र

समर्पण

त्यागमूर्ति—माँ,
महासती श्री प्रेमकु वर जी म० सा०
के कर कमलों मे
अनन्त आस्था के साथ· · ·
सादर,· · सविनय · ·
अर्पित· · · 'समर्पित·········।

—गणेश मुनि



निर्मल मधुर सरलचेता हैं, मुखमुद्रा अति भव्य।
कवि-लेखक - वक्ता विद्वद्वर, करते कृति नित-नव्य।
आध्यात्मिक नैतिक भावों का, करते नित उद्बोधन।
श्री गणेशमुनि शास्त्री को हम, करें भाव युत वन्दन।

प्रकाशकीय

प्रिय पाठको के पाणि-पद्मो मे "सरल भावना-बोध" प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

जैनदर्शन का यह स्वर हजारो वर्षों से मुखरित है—

'भावसच्चेणं भाव विसोहिं जणयई'।

अर्थात्—भाव सत्य से आत्मा भाव-विशुद्धि को प्राप्त करता है। प्रत्येक क्रिया—चाहे छोटी हो या बडी, धार्मिक हो अथवा सामाजिक, भावना के साथ सम्बन्ध रखती है। पवित्र भावना के द्वारा प्राणी के जन्म-मरण भी समाप्त हो जाते है। जिस क्रिया मे भावना का माधुर्य प्रवाहित नही हो रहा है, वह क्रिया कभी भी सवर-निर्जरा का हेतु नही बन सकती, और सवर-निर्जरा के विना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही।

भाव का सकोरा है तो उसमे तेल, वाती सब कुछ रखे जा सकते हैं और एक दिन उसमे ज्योति भी जगमगा सकती है, किन्तु सकोरा फूट गया तो फिर मात्र प्रकाश की कल्पना ही रह जायेगी। अत भाव के सकोरे को सुरक्षित रखना आवश्यक ही नही, बल्कि अनिवार्य है।

जैन ग्रन्थो मे बारह प्रकार की भावना बताई गई है। प्रत्येक साधक के लिए उसकी स्वाध्याय भी आवश्यक है। भावना पर कई विद्वानो ने सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओ मे लिखा है और वे प्रचलित भी है, किन्तु भाषा ज्ञान के अभाव मे अथवा अतिविस्तार मे होने से साधारण-जन के तो कुछ पल्ले ही नही पडता, और कुछ ग्रन्थ हिन्दी मे हैं तो वे इतने सक्षेप मे हैं कि पाँच-पचास दोहो मे ही उनका समापन हो गया है जो नही से हैं।

उक्त कुछ कारणो को लेकर ही हमारा सस्थान "सरल-भावना वोध" ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है। निकट के कुछ ही अर्सो मे सस्थान ने साहित्य ससार को ऐसे सुन्दर ग्रन्थ रत्न भेंट दिये हैं—जिनका साधारण-जन से लेकर विद्वद्जन तक सम्मान हुआ है।

'सरल भावना वोध' उसी समादृत ग्रन्थो की कड़ी की एक लड़ी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक है सुप्रसिद्ध साहित्यकार, व्याख्यान-वाचस्पति, स्थनागध्रन्य श्री गणेश मुनि जी शास्त्री। आपने अब तक पैंतीस से अधिक ग्रन्थ लिख चुके हैं। कई ग्रन्थ प्रेस के चक्र पर घूम रहे हैं तो कई अप्रकाशित-पाण्डुलिपि के रूप में रहे हुए हैं। सस्थान अपनी सुविधा के अनुसार प्रति वर्ष क्रमश. उन ग्रन्थो को प्रकाश मे ला रहा है।

परमश्रद्धेय व्याख्यानवाचस्पति जी म० सा० की असीम कृपा का ही यह सुफल है कि हमारा सस्थान प्रगति के पथ पर चल रहा है।

'सरल भावना वोध' मे श्री वाचस्पतिजी म० सा० ने प्रत्येक भावना पर प्रारम्भ मे भावना के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। उसको सरल से सरलतर वनाने के लिए एक-एक लघु कथानक भी भावना सम्बन्धी दिया है, जिससे पाठक वहुत सरलता से भावना को समझ सके। भावना पर समाज मे एक ऐसी सरलतम कृति की कमी का अनुभव वर्षो से किया जा रहा था, उसकी सम्पूर्ति श्री वाचस्पति जी म० सा० ने करके जो हमे सेवा का अवसर प्रदान किया है, वह कभी भुलाया नही जा सकता। वैसे आपकी प्रत्येक कृति एक अमूल्य नूतन उपहार होती है, किन्तु 'सरल भावना वोध' मे आपकी प्रतिभा के वीज अनूठे प्रकार के चमक-दमक रहे हैं।

'सरल भावना वोध' के प्रकाशन मे अर्थ सहयोग श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, मदनगज का रहा है जो अत्यन्त सराहनीय है। श्री वाचस्पति जी म० सा० के ओजस्वी प्रवचनो से श्री सघ अत्यधिक प्रभावित रहा। अनेकानेक धर्मध्यान, दयाव्रत, तपश्चर्या व दर्शनार्थियो के आगमन से आपका वर्षावास खूब यशस्वी रहा। सघ ने तन-मन-धन से सेवा साध कर अपने दायित्व को निभाया। इतना ही नही वल्कि गुरुदेव श्री के इस ऐतिहासिक वर्षावास की पावन स्मृति को चिरस्थायी वनाये रखने के लिए 'सरल भावना वोध' जैसे आदर्श ग्रन्थ के प्रकाशन मे जो अर्थ सहयोग प्रदान किया वह महान् है। साथ ही उसकी ज्ञान के प्रति अभिरुचि का यह एक द्योतक भी है। मदनगज श्री सघ की इस सेवा के लिए हमारा सस्थान उसका पूर्ण आभारी है।

इसी प्रकार उदारमना श्री सघो तथा व्यक्तियो का अर्थ सहयोग समय-समय पर हमे मिलता रहा तो पूज्य गुरुदेव श्री के अनेक ग्रन्थ जो अप्रकाशित हैं उन्हे शीघ्र ही प्रकाश मे ला सकेंगे।

मत्री
अमर जैन साहित्य सस्थान
उदयपुर (राज०)

लेखक की कलम से

जीव और जगत के विषय मे गम्भीर चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। इसी अनुप्रेक्षा को 'भावना' कहा गया है। भावना का महत्त्व वैसे सभी धर्मों व दर्शनो मे समान रूप से समादृत है। किन्तु जैन दर्शन की तो यह आत्मा ही है। भाव विना की साधना सम्यक् साधना नही कही जा सकती। कभी-कभी तो भाव विना की साधना साधक की उत्क्रान्ति-उत्थान के वजाय पतन का ही कारण बन जाती है। अत प्रत्येक साधना मे भावो की प्रधानता अपेक्षित है।

जैन दर्शन मे मुक्ति पथ के चार कारण वतलाए गए है—दान, शील, तप और भाव। भाव का स्थान चतुर्थ है, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दान दिया, किन्तु दान के साथ भावना का माधुर्य अर्पण नही किया, शील की आराधना की, किन्तु शील मे भाव रस का सचार नही हुआ, तप का भी अनुष्ठान किया, किन्तु तप मे भावना की ज्योति नही जगमगाई—तो ये सब क्रियाएँ प्राण शून्य ही कही जायेगी, प्राणवान नही।

हाँ, भाव-विहीन क्रियाएँ पुण्य का हेतु हो सकती है, वे सवर-निर्जरा का कारण नही वन सकती। जवकि भावना का प्रमुख लक्ष्य ही सवर-निर्जरा है।

जैन धर्म मे वारह प्रकार की भावना का विधान है। पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने भावना के स्वरूप पर हिन्दी-सस्कृत व प्राकृत मे वहुत कुछ लिखा है तथा उसका स्वाध्याय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ के लिए नित्य अनिवार्य वतलाया है।

जिन विद्वानो ने भी भावना का वर्गीकरण किया है, उन्हे मनोवैज्ञानिक मानना उचित है। क्योकि प्रशस्त एव अप्रशस्त भावना की पहिचान के लिए वर्गीकरण उपयोगी है। प्रशस्त भावनाएँ रखने वालो का ही मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है, जीवन प्रशस्त होता है, मरण प्रशस्त होता है। जो प्रशस्त होता है वह विश्वस्त होता है। जो विश्वस्त होता है वह अत्रस्त होता है। जो अत्रस्त होता है वह स्वस्थ होता है और जो स्वस्थ होता है वह छद्मस्थ होते हुए भी वीतराग के निकटस्थ होता है।

वीतरागता की समीपता के समभिलापी के लिए भावनाओ का समुचित अभ्यास करना आवश्यक है। प्रशस्त भावनाओ का कारण, अनुकरण, अनुमोदन उत्तमता है। अत युगानुकूल सरल, सहज, सुवोध राष्ट्रीय भाषा मे "सरल भावना वोध" का पद्यात्मक निर्माण रुचिकर, प्रियकर, हितकर, सुखकर होगा। इसी दृष्टि से इस दिशा मे मेरा यह चरण विन्यास है।

अनजानी राहों पर चलने में संशयादि उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु जिन पथों पर महापुरुषों के चरण-चिन्ह स्पष्ट रूप से अंकित हों और उन्हीं का अनुगमन करना हो तो भय कैसा ? मुझे तो सिर्फ अपनी अभिरुचि के अनुरूप पद्यावलियों को प्रस्तुत करने का श्रम करने का श्रेय है।

"सरस भावना बोध" के निर्माण में कुछ सहायक ग्रन्थ रहे हैं, उनका उल्लेख करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

प्रथम—जैन जगत् के महान् यशस्वी-तेजस्वी उपाध्याय श्री विनयविजयजी द्वारा प्रणीत १६वीं शताब्दी का "श्री शान्त सुधारस" [संस्कृत गेय-काव्य] रहा है।

दूसरा—अध्यात्म पुरुष श्रीमद्राजचन्द्र द्वारा उल्लिखित 'भावना बोध' [गुजराती-गद्य] है जो सर्वत्र प्रसिद्ध और समादृत है।

तीसरा—आचार्य सम्राट् परम श्रद्धेय श्री आनन्द ऋषि जी म० सा० का "भावना योग एक विश्लेषण" सम्पादक यशस्वी लेखक श्रीयुत् श्रीचन्द जी सुराना 'सरस'।

उक्त ग्रन्थों का मैंने बारीकी से अध्ययन किया है, अध्ययन ही नहीं बल्कि मैंने निःसंकोच रूप से उसका उपयोग भी किया है। उन सभी कृतिकारों का मैं पूर्ण आभारी हूँ—जिनकी कृति से मुझे अपनी रचना के प्रणयन में दिशा-दर्शन प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ की सौन्दर्यता व उपादेयता जो भी है वह मेरे परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० के आशीर्वाद का सुफल है। उनके आशीर्वाद से ही मैं साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर पाया हूँ।

मेरे परम स्नेही-सहयोगी श्री जिनेन्द्र मुनि द्वारा लेखन कार्य में मुझे सतत सहयोग प्राप्त होता रहा है, और उनकी प्रबल प्रेरणा से ही ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश में आ सका है, अतः उन्हें हार्दिक साधुवाद।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादक कविवर्य पण्डित श्री नेमीचन्द जी पुगलिया हैं, जो जैन समाज के जाने-माने लेखक, कवि व अध्यापक हैं। पुस्तक का संपादन बहुत सुन्दर रीति से किया है। भाषा सौष्ठव के साथ-साथ प्रेरक तत्त्व को भी उजागर करने का सत्-प्रयत्न किया है। पुगलिया जी का यह स्नेह मेरी स्मृति-पथ पर सदा चमकता-दमकता रहेगा।

सुप्रसिद्ध चिन्तक, विद्वान् श्रीयुत् डा० नरेन्द्रजी भानावत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखकर ग्रन्थ की गरिमा में वृद्धि की है। अतः हृदय की गहराई से मैं उनका अनुस्मरण करता हूँ।

यशस्वी लेखक स्नेहमूर्ति श्रीयुत् श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने मुद्रणकला की दृष्टि से पुस्तक को आधुनिक साज-सज्जा युक्त बना दी है, तदर्थ वे सदा अविस्मरणीय रहेगे।

"सरल भावना बोध" की रचना करके मैं आज एक हर्षानुभूति का अनुभव कर रहा हूँ, चूंकि वर्षों पूर्व मेरे मन के किसी अज्ञात कोने मे एक परिकल्पना पडी हुई थी कि मैं अपने लिए ही नही—बल्कि आत्मलक्षी—स्वाध्यायियो के लिए "भावना योग" पर रागात्मक—लयात्मक एक ऐसी रचना का निर्माण करू जो सार्वजनिक सार्वकालिक उपादेय बने। मैं नही कह सकता कि मैं अपने इस अभियान मे कहाँ-किस सीमा तक सफल हो सका हूँ। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि अब तक मैंने जिस विषय पर जितना भी लिखा है, पाठको ने उसका स्वागत किया है। साहित्य ससार मे उसका समादर हुआ है। मेरा उत्साह बढता ही रहा है। उसमे मदता या शिथिलता जैसी कोई बात नही आने पाई। यही कारण है कि मैं अब भी निरन्तर निष्ठापूर्वक लिखता ही जा रहा हूँ। लिखना मेरा काम है।

मुझे आशा है प्रस्तुत ग्रथ आध्यात्मिक आलोक प्राप्त करने मे—स्वाध्यायियो के लिए, तत्त्वदर्शियो के लिए, सद्गृहस्थो के लिए, नित्य पठन-पाठन मे अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

"जैन धर्म स्थानक"
६।११।७७, [धनतेरस]
मदनगज-किशनगढ [राज०]

—गणेशमुनि शास्त्री



मनुष्य विचारशील प्राणी है। इस विचारशक्ति के कारण ही वह प्राणियो मे श्रेष्ठ माना जाता है। विचारो की शक्ति न केवल मनुष्य को महान् वनाती है वरन् अन्य शक्तियो को भी नियन्त्रित और सचालित करती है। तकनीकी विकास के कारण आज यान्त्रिक शक्ति प्रधान वन गई है, उससे जीवन का सुविधा-क्षेत्र विस्तृत हुआ है पर चिन्तन का क्षितिज नानाविध दुविधाओ से आक्रान्त हो गया है। सचार के द्रुत-गामी साधनो से जिन्दगी की धडकन तेज और वेगवती हुई है पर उसकी आत्मलय खण्डित होकर निस्तेज और कुण्ठित हो गई है। फलस्वरूप हार्दिकता का स्थान यान्त्रिकता लेती जा रही है। इससे 'परिधि' का विस्तार तो हो रहा है पर 'केन्द्र' उसी अनुपात मे कमजोर वनता जा रहा है। केन्द्र के कमजोर और विचलित होने से जो विकास की रेखाएँ उससे प्रस्फुटित हो रही है वे परस्पर टकराने लग गई हैं। इससे एक प्रकार का द्वन्द्व और तनाव पैदा हो गया है जिसने जीवन को सशयग्रस्त, असुरक्षित, भयभ्रान्त, नैराश्यपूर्ण और भावनाशून्य वना दिया है।

जगत् के रहस्यो को जानने और खोजने के नित नवीन आविष्कार करते हुए आज का वौद्धिक मानस जल, थल, नभ की अतल गहराइयो को नापने और निस्सीम ऊँचाइयो को छूने के लिए वेतहाशा भागा जा रहा है, दौडा जा रहा है। उसे क्षण-भर भी रुककर अपने 'केन्द्र' की ओर देखने का समय नही है। वहिर्जगत की यात्रा ने उसके अन्तर्जगत के वैभव को उपेक्षित कर दिया है, हार्दिकता के रस-स्रोत को अवरुद्ध कर दिया है। यही कारण है कि इतनी दौड-धूप और वैचारिक यात्रा करने के वाद भी मनुष्य शान्त और सुखी नही है। जव-जव मनुष्य 'स्वभाव' मे स्थित न रहकर 'विभाव' मे विचरण करने लगता है तव-तव उसकी यही परिणति होती है। मनुष्य का वडप्पन वहिरात्मा से अन्तरात्मा मे प्रवेश करने मे है पर तथाकथित ज्ञान के अहम् ने उसे शरीर की पाँच-छह फीट की ऊँचाई मे ही सिमटा कर रख दिया है और इसी विन्दु पर वह अपने आपको सवसे वड़ा विचारक और खोजी समझ वैठा है। इसी भूल के कारण आज वह सत्रस्त और दिग्विमूढ है।

इस विमूटता और व्यामोह को तोडने के लिए 'परिधि' से 'केन्द्र' की ओर मुडना होगा, अन्तर्जगत की यात्रा प्रारम्भ करनी होगी, यान्त्रिक शक्ति को हार्दिक (भावनाप्रधान) शक्ति के अधीन रखना होगा। पर यह सव कैसे हो ? इसकी प्रक्रिया

क्या है ? इसकी प्रकृति क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है। आचार्यों ने कहा है—इसका आधार मनोभूमि है, मन मे उठने वाली पवित्र भावना है। 'योगवाशिष्ठ' मे कहा है—'सदा अमृतरूप मे चिन्तन करने से विष भी अमृत बन जाता है तथा मित्रदृष्टि से देखने पर शत्रु भी मित्ररूप मे परिणत हो जाता है।' भगवान् महावीर ने 'आचाराग सूत्र' मे कहा है—**जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा**'' अर्थात् जो आस्रव—कर्मप्रवेश के हेतु हैं, वे भावना की पवित्रता से परिस्रव—कर्म रोकने वाले—हो जाते है और जो परिस्रव हैं, वे भावना की अपवित्रता से आस्रव हो जाते हैं।

भावनाओ का, मानसिक क्रियाओ का हमारे जीवन-व्यवहार पर गहरा प्रभाव पडता है। मन मे पवित्र भाव आये, इसके लिए सम्यक् आहार-विहार और सस्कार महत्त्वपूर्ण घटक का कार्य करते है। पर दुख इस बात का है कि जिस अनुपात मे ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है, उस अनुपात मे मानवीय सद्‌गुण विकसित नही हुए है। ज्ञान की दो दिशाये है। एक दिशा है आत्मा या द्रष्टा का ज्ञान और दूसरी दिशा है दृश्य जगत् या देह का ज्ञान। आज की शिक्षा पद्धति मे सारा बल और अभ्यास दृश्यजगत् के ज्ञानार्जन पर दिया जाता है। फलस्वरूप मस्तिष्क तार्किक तो बनता है पर अनुभूतिप्रवण नही, प्रज्ञावान नही। इस कारण शिक्षा द्वारा जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है उसका स्व-पर कल्याण मे अभीष्ट उपयोग नही हो पाता। इसके लिए वैयक्तिक जागरूकता और अभिक्रम के साथ-साथ सामाजिक के प्रति सहानुभूति, द्रवणशीलता और दायित्व-बोध की भावना का होना आवश्यक है।

भावना प्रत्येक कार्य मे प्रेरक शक्ति का काम करती है। धार्मिक क्रिया का आधार भी भावना होती है। भावना के मुख्य दो प्रकार होने से धर्म के भी दो स्तर है—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक स्तर पर धर्म व्यक्ति के सद्‌गुणो को जाग्रत और विकसित करने के अवसर प्रदान करता है। क्रोध को क्षमा से, अहकार को विनय से, माया-कपट को सरलता से और लोभ को सन्तोष से जीतने की भूमिका प्रस्तुत करता है। सामाजिक स्तर पर ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म की परिपालना करते हुए लोक-कल्याण के लिए जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देता है।

भावना को कई रूपो मे रखकर समझा जा सकता है। जीवन-सग्राम मे सुख-दुख रूप भावना क्रियाशील रहती है। सुखात्मक भावना के ही रूप हैं—प्रेम, लोभ, उत्साह, श्रद्धा आदि और दुखात्मक भावना के रूप हैं—क्रोध, भय, करुणा, ईर्ष्या, ग्लानि आदि। राग और द्वेष इनके मूल कहे जा सकते हैं। सच्चा श्रावक इन भावनाओ मे उलझता नही। वह इनसे ऊपर उठकर 'आनन्द' की अनुभूति मे लीन होता है, ऐसी अनुभूति, जहाँ न सुख है न दुख। इसे समता या समरसता की स्थिति भी कह सकते है।

इस स्थिति को पाने के लिए जो साधना का क्रम है, उसमे भावना भाने का विशेष महत्त्व है। आचार्यों ने इस दृष्टि से बारह भावनाओ—अनित्य भावना, अशरण भावना, ससार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशौच भावना, आस्रव भावना, सवर भावना, निर्जरा भावना, धर्म भावना, लोक भावना, बोधिदुर्लभ भावना और चार भावनाओ—मैत्री भावना, प्रमोद भावना, कारुण्य भावना तथा माध्यस्थ भावना का विधान किया है। इनमे प्रारम्भ की ६ भावनाए मुख्यत आत्मगत हैं जो व्यक्ति के आत्म को, स्व को जागृत करने मे प्रधान रूप से प्रेरक और सहायक बनती हैं। इन भावनाओ के चिन्तन से व्यक्ति का अह टूटता है, मोह हटता है, आत्म-रक्षण का भाव प्रगाढ बनता है, आत्मनिर्भरता और पुरुषार्थ—पराक्रम जागृत होता है, देहासक्ति छूटती है और आत्मतत्त्व के प्रति दृढ श्रद्धान होता है। शेष भावनाए व्यक्ति के 'स्व' को 'सर्व' की ओर अभिमुख करती है। उसे ऐसे कर्म करने से रोकती हैं। जिनसे स्व व पर का अहित होता है, ऐसे कर्म करने को प्रेरित करती हैं जिनसे स्व व पर का कल्याण होता है। सबके प्रति मैत्रीभाव बढाती हैं, गुणो के प्रति अनु-राग जगाती हैं, दूसरो के लिए बहने, पिघलने का अवसर देती है और फिर भी सबके प्रति अनासक्त बनाये रखती हैं। भावनाओ का यह चिन्तन, मनन और अभ्यास व्यक्ति को अनित्यता से नित्यता, बिन्दु से सिन्धु और अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है।

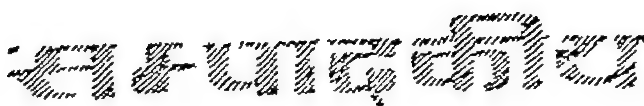
इस प्रकार का 'भावना' सज्ञक साहित्य विपुल परिमाण मे रचा गया है। मध्ययुग मे विभिन्न काव्य रूपो मे, काव्य प्रकारो मे इसे निबद्ध किया गया है। पर फिर भी एक ऐसे सहज-सुलभ, सरल-सरस काव्य की आवश्यकता थी जो जन-जन का कठ-हार बन सके। यह बडी प्रसन्नता और गौरव की बात है कि जैन समाज के विद्वान् गवेषक सत और सफल-समर्थ कवि श्री गणेश मुनि शास्त्री के द्वारा यह कमी पूरी हुई है।

श्री गणेश मुनि शास्त्री सहज कविधर्म के धनी हैं। वे भावनाप्रवण हैं। उनमे प्रबन्धपटुता भी है और मुक्तककार का नैपुण्य भी। भाषा पर जैसा उनका अधिकार है वैसा छन्द विधान पर भी। चाहे इतिवृत्त हो, चाहे रसमय प्रसग, वे सहज बनकर अपनी लेखनी चलाते हैं। सरलता के साथ सरसता, सौन्दर्य के साथ सादगी और कथा-निर्वाह के साथ मार्मिकता इस काव्य की विशेषता है। जहाँ भावना की परिभाषा, स्वरूप-चित्रण, माहात्म्य आदि का प्रसग है वहाँ कवि ने मुख्यत दोहा, छन्द का प्रयोग किया है और जहाँ भावना के मर्म को समझाने के लिए किसी कथा का कथन किया है वहाँ उसे 'राधेश्याम' की तर्ज मे ढाला है। इस शिल्प नैपुण्य के कारण इसके रसास्वादन मे कबीर की साखियों और तुलसी की चौपाइयो का सा आनन्द साथ-साथ लिया जा सकता है।

श्री गणेश मुनि शास्त्री का कविकर्म 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पक्षधर नही है। वह 'ज्ञान-विकास' को रोके रखना नही चाहता, उसे 'जन-जन के पास' पहुँचाना चाहता है, इसलिए कि उसके 'जीवन की कोमल कलियाँ' विकसित हो। कवि प्रकाश और विश्वास का हामी है। वह 'भावना' का सैद्धान्तिक पक्ष प्रतिपादित कर ही नही रह जाता वरन् उसे जीवन मे आचरित करने की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि यह काव्य, दर्शन और सिद्धान्त का ग्रथ बनकर नही रह गया है। यह जीवन से हारने वालो के लिए जीत का उच्छ्वास, अधेरे मे भटकते लोगो के लिए दिव्य प्रकाश और सत्रस्त मानवता के लिए नवीन उल्लास बनकर प्रकट हुआ है। इस ज्योतिवाही काव्य और इसके प्रणेता श्री गणेश मुनि शास्त्री का मैं अभिनन्दन करता हूँ, क्योकि इसके माध्यम से इस युग के व्यक्ति और समाज को प्रज्ञा व सवेदना के भाव स्तर पर जागृत करने मे मदद मिलेगी।

१५ दिसम्वर, १९७७
सी-२३५ ए, तिलकनगर,
जयपुर-४

—डा० नरेन्द्र भानावत
[प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय]
जयपुर (राजस्थान)



सन्त-मुनिजनो के समागम का आनन्द शब्दातीत है। उसका वर्णन कर पाना सहज नही। शताब्दियाँ अखण्ड रूप से इस सत्य का उद्घोप करती आ रही हैं, अत इस सन्दर्भ मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि सन्तशरण जीवन-मार्ग की उज्ज्वल दिशा मे प्रथम प्रवेश है।

परम श्रद्धेय विद्वद्रत्न व्याख्यानवाचस्पति श्री गणेश मुनिजी शास्त्री के जव मैंने प्रथम वार दर्शन किये तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो सहसा मुझे कोई अन्धकार से प्रकाश मे ले आया हो, मानो मृत्यु पीछे छूट गई हो और आगे अमृत लोक फैला पडा हो।

मानो दिशाएँ गा उठी हो—"**तमसो मा ज्योतिर्गमय** ..." ।।

मुनि श्री जी ने मुझे इस समय दर्शन के प्रसग पर आदेश दिया कि आप "सरल भावना-वोध" का सम्पादन कर दे। वैसे मैं मुनि श्री की एक-दो रचना "विश्व ज्योति महावीर", "अनगूंजे स्वर" का सम्पादन पूर्व कर चुका हूँ। तथापि मैं सकोच मे डूब गया—ऐसे विद्वान सन्त की लेखनी से प्रसूत किसी कृति का मैं भला क्या सम्पादन कर सकूँगा ? जो कि मुनिश्री जी स्वय एक समर्थ कवि और लेखक है। फिर भी आदेश तो आदेश, उसकी अवहेलना कैसी ? मैंने यही मानकर यह कार्य स्वीकार किया कि इस निमित्त से ज्ञान और विचार की कोई नई किरण मुझे प्राप्त होगी।

प्राचीन जैन साहित्य मे ज्ञान और विचार के ऐसे-ऐसे अमूल्य रत्न-कण विखरे पडे हैं कि उनकी तुलना सम्भवत विश्व के किसी भी अन्य भापा के साहित्य से न की जा सके।

आदेश का पालन करते हुए "सरल भावना-वोध" का सम्पादन किया। इस सम्पादन से मुझे एक सात्त्विक-गर्वानुभूति हो रही है और वह यह है कि मेरी सम्पादन कला मुनिजनो की कृतियो का सुख-स्पर्श कर पाती है। मेरी यह छोटी-सी सेवा मुनिश्री जी के श्रीचरणो मे पुप्प तो नही, पर पुप्प के स्थान पर पखुडी अर्पण का काम करेगी।

मुनिश्री जी के विचार अत्यन्त उदार हैं। मैंने गहराई से उन्हे देखा कि वे विद्वानो का तथा उनकी सेवाओ का स्मरण, उत्कीर्तन करने मे किंचित् भी सकोच नही करते।

मैं आशा करता हूँ कि मुनिश्री जी सम्पादन सेवा का स्वर्णिम अवसर मुझे समय-समय पर इसी प्रकार आगे भी प्रदान करते रहेगे।

—**नेमीचन्द पुगलिया**

भावना-क्रम



भावना भव-नाशिनी

सरल भावना-बोध

मंगलाचरण

●

दोहा

सरस्वती मां ! दीजिए, मुझे सिर्फ सद्बुद्धि ।
जिससे रचना में कही, रह पाये न अशुद्धि ।।

हंसवाहिनी ! दो मुझे, हंस समान विवेक ।
रहने दूं न किया हुआ, क्षीर-नीर को एक ।।

दे दो वीणावादिनी !, ऐसा शुभ वरदान ।
श्रुत-वीणा झकार से, पाऊँ ऊँचा स्थान ।।

मा करुणा ऐसी करो, भरो ज्ञान भंडार ।
जिसे लुटाता मैं चलूं, लूटे यह संसार ।।

दुष्कर अतिदुष्कर सुकर, बन जाते सब काम ।
"मुनि गणेश" लेता प्रथम, गुरु पुष्कर का नाम ।।

साथी संतो ! दीजिए, मुझे शुद्ध सहयोग ।
जिससे पाये पूर्णता, मेरे पुण्य प्रयोग ।।

मेरी कृतियों को मिले, जनता से सम्मान ।
मैं मांगू भगवान से, एक यही वरदान ।।

लिखता ज्ञानामोद-हित, सरल भावना-बोध ।
पद्यावलि मेरी नई, नई नही है शोध ।।

पढकर जो पावो उसे, जनता में दो बाँट ।
लेने वाले जन स्वयं, लेंगे उसको छाँट ।।

□

प्रवेश-द्वार

दोहा

बिना भावना धर्म का, नही निकलता अर्थ ।
भावसहित होते यहाँ, सारे अर्थ समर्थ ॥
द्विविध भावना का प्रमुख, मिलता है उल्लेख ।
एक अशुभ, शुभ एक है, वरते सहित विवेक ॥
श्रमणधर्म की भावना, होती है पच्चीस ।
चारित्रान्तर्गत सभी, कहते श्रीजगदीश ॥
ग्रन्थ आगमेतर सकल, करते उन्हें प्रमाण ।
रही हमारी भावना, जो वैराग्य-प्रधान ॥
हैं वे द्वादश-भावना, जग में बहुत प्रसिद्ध ।
जिनके द्वारा ही हुआ, श्रुत साहित्य समृद्ध ॥
ध्यानशतक में ढूंढ लो, पढ लो आदिपुराण ।
हमें भावना के लिए, मिलते सबल प्रमाण ॥
कभी टूट सकता नही, बिना भावना बन्ध ।
परिणामो से बन्ध का, पूर्णतया संबंध ॥
जैसी जिसकी भावना, वैसा उसका रूप ।
विद्वज्जन बतला रहे, आगम के अनुरूप ॥
गति-आगति इस जीव की, होती मति अनुसार ।
इसीलिए है भावना, एकमात्र आधार ॥
कब आती शुभ भावना, जो हों मन मे पाप ।
क्या शास्त्रों में देखना, स्वयं समझते आप ॥

आ जाती शुभ भावना, जो हो मन में धर्म ।
छिपा हुआ होता प्रगट, जैनागम का मर्म ॥
भावो ऊँची भावना, जो करना कल्याण ।
हम ही है अपने लिए, सबसे पुष्ट प्रमाण ॥
शान्तसुधारस काव्य में, भरा पड़ा है सार ।
मैं भी लिखने को चला, उसके ही अनुसार ॥
प्रथम भावना का सुनो, है अभिधान अनित्य ।
लिए जगत के है सदा, नामकरण औचित्य ॥

□

: १ :

अनित्य-भावना

नहीं रहेगी सौरभ सुषमा, मिट्टी में मिल जायेगी।
उसी स्थान पर नव सुमनों की, नवकलियाँ खिल जायेगी॥

केवल आप नहीं हो भाई, औरों का भी ध्यान रखो।
करो नहीं अपमान किसी का, सँस्कृति का सन्मान रखो॥

1

अनित्य भावना

राधेश्याम

अनित्य दर्शन

दृश्य मात्र क्षणभंगुर ऐसा, प्रथम-भावना कहती है।
जो कुछ अभी दृष्टिगत है वह, स्थिति न क्षणान्तर रहती है॥

चेतन और अचेतन जग का परिवर्तन होता पल-पल।
अचल नहीं अचला पर किंचित्, खेल चलाचल की हलचल॥

रोगों से आक्रान्त देह यह, जराक्रान्त है यौवन रूप।
जीवन मरणाक्रान्त स्पष्ट है, वैभव नाशाक्रान्त स्वरूप॥

"व्याधिमंदिर इद शरीर", व्यर्थ इसी पर मन का मोह।
ठीक समय पर यही हमेशा, छेड़ दिया करता विद्रोह॥

इसे स्वस्थ रखने को सारे, करते हम जी-तोड़ प्रयास।
सुदृढ़ समझकर जिसे पालते, पाता क्षण-क्षण वही प्रणाश॥

पत्ते पर स्थित ओसबिन्दु भी, मुक्ताफल सम दिखते है।
अगर उन्हे मोलाया जाए, बोलो क्या वे बिकते है॥

निर्धन धनी धनी फिर निर्धन, रक बना करता राजा।
देखे जाते आँखो सम्मुख, उदाहरण इसके ताजा॥

बनती और बिगड़ती जाती, दीवारे दृढ भवनो की।
अमरों को भी नही छोडती, स्थिति उत्पादो च्यवनो की॥

देह-स्वरूप

ढोल बोल सुनने को भी ये, हो जाते है श्रोत्र अशक्त ।
देखा जो न सुना वो भी नर, देख लिया करता है वक्त ।।
पहचाना जाता न आँख से, अपने पास खड़े नर को ।
क्षीण समय पर हो जाती है, नेत्रज्योति जीवन-भर को ।।
चला न जाता बिना सहारे, रहा न जाता खड़ा तथा ।
जिसको होती वही जानता, जर्जरता की क्रूर-व्यथा ।।
बोला जाता नही बरावर, दांत न मुंह में एक रहा ।
स्मृति दुर्बल हो जाने से भी, पहले-सा न विवेक रहा ।।
अपनी दशा बुरी हो जाती, परिणीता लेती मुह मोड़ ।
पुत्र, पुत्रबधुओ से मिलता, प्रत्युत्तर तीखा मुह-तोड़ ।।
सगे सनेही सम्बन्धी सब, खारे लगते गरल समान ।
क्योंकि वृद्ध को पहले जैसा, प्राप्त नही होता सम्मान ।।
जीवन और जगत लगता है, पूर्णतया स्वार्थी सूना ।
घर भी नही सुहाता तब वह, क्या जाये बोम्वे पूना ।।
अटक-अटक कर सांस पवन भी, रुक जाने को कहता है ।
रहा न कोई साथी तब यह, वेचारा क्या रहता है ।।
भोग-लालसा रही अधूरी, दिया शक्तियों ने उत्तर ।
बिना काम के पत्रो का कब, पडित देते प्रत्युत्तर ।।
तन से दुर्वल, मन से दुर्बल, धन से दुर्बल अति दुर्बल ।
सवल सवल असफल हो जाते, अनित्यता का खेल प्रबल ।।

क्या गिनती है ?

आये गये यहाँ कितने ही, गिनती इसकी कौन करे ।
लिखने वाला स्वयं दूसरा, हस्ताक्षर फिर कौन करे ।।
खेल अनादिकाल का है यह, टूट नही सकता है क्रम ।
मैं हूँ अमर अमर मेरा धन, यही मूर्खपन झूठा भ्रम ।।

चले गये सब चले जा रहे, और चले जाएगे सब ।
पता नही फिर से दुनिया में, और चले आएगे कब ॥
छोड़ो मोह जगत का प्यारे, तोडो स्वार्थी नातो को ।
आज नहीं मानोगे पर, कल, मानोगे इन बातों को ॥
बड़ों-बड़ों को पड़ा मानना, पड़ा छोडना जग सारा ।
जो लगता प्राणों से प्यारा, लगता क्या न वही खारा ॥
एक भिखारी के सपने का, उदाहरण ले लो सच्चा ।
खाते नये डालने वाले, कब लेते चिट्ठा कच्चा ॥

भिखारी का उदाहरण

एक भिखारी क्षुधा-प्रपीड़ित, इधर-उधर था भटक रहा ।
अन्न न मिला उदर भरने को, अधर-बंब में लटक रहा ।
इस घर से उस घर पर जाकर, देता दाता को आवाज ।
कहता कोड दिवाली जीओ, और करो अंदाता राज ॥
खाने को दो जो कुछ भी हो, खाऊंगा सुख पाऊंगा ।
गुण गाऊंगा दातारो के, लिए शांति सुख चाहूँगा ॥
किसी सुखी घरवाली स्त्री ने, दिया इसे लाकर भोजन ।
खाद्य प्रचुर-मात्रा मे बचता, जहाँ भोज का आयोजन ॥
घर से दूर राजपथ पर जा, बैठा एक किनारे पर ।
बड़े चाव से खाता है वह, मानो श्रेष्ठ मिला अवसर ॥
जितनी इच्छा थी उससे भी, मिला अधिक भोजन इसको ।
किया सभी को अपने वश मे, कब छोड़ा रसने किसको ? ॥

राजा की सवारी

देख रहा है इधर आ रही, असवारी वसुधापति की ।
विचित्रताएँ माना करता, आस्तिक कर्मो की गति की ॥
गजारूढ नृप के मस्तक पर, शोभित है सोने का छत्र ।
"अदाता की जय हो" ऐसी, मगलध्वनि गु जित सर्वत्र ॥

आगे सैनिक पीछे सैनिक, सचिव और सेवक जन साथ।
साधारण-जन की न शक्ति है, जो राजा से करले बात ॥

पालखियों में महारानियाँ, हँसती हुई लुटाती फूल।
सब कुछ दिया एक को ही यह, क्या न विधाता की है भूल ॥

हाथी घोड़े रथ पैदल दल, मधुर-मधुर बजते बाजे।
नही पास मे कही दूर पर, मानो सावन-घन गाजे ॥

सेठ और साहूकारों का, साथ दीखता बड़ा समूह।
जिसका भाग्य साथ देता हो, क्या है उसके लिए दुरूह ॥

उसी भिखारी के आगे से, निकली नृप की असवारी।
भव्य जुलूस देखने की भी, कभी-कभी मिलती वारी ॥

भिखारी का स्वप्न

खाया अच्छा, देखा अच्छा, अच्छी तरह गया अब सो।
गहरी नीद आ गई वह अब, गया एक सपने में खो ॥

मैं राजा हूँ मेरे सम्मुख, खड़े सभासद जोड़े हाथ।
बड़े-बड़े राजा आते है, मेरे से करने को बात ॥

वस्त्राभूषण मूल्यवान है, मस्तक पर है मुकुट सजा।
इन्द्र सामने क्यों आयेगा, वह बेचारा गया लजा ॥

खमा-खमा की ध्वनि करते हैं, अनुचर खड़े हुए सारे।
नजर पसारे जिधर उधर ही, लगते जय-जय के नारे ॥

जिससे लज्जित इन्द्रभवन हो, शयनखंड सज्जित ऐसा।
सपने की है सकल साहिबी, नही लगा कोई पैसा ॥

पंखा झलती हुई दासियाँ, पास रानियाँ रही विराज।
पटरानी का रूप देखकर, इन्द्राणी भी मरती लाज।

सुख वैभव समृद्धि भोग का, लूट रहा मन मे आनन्द।
निर्धन को सपने जो आते, कौन इसे कर सकता बन्द ॥

बहुत खुशी है बहुत हर्ष है, बड़ा भूप बन जाने से।
सपना पूरा हो न सकेगा, इसको अभी जगाने से ॥

स्वप्न टूट गया

उमड़ी मेघ घटा इतने मे, गड़-गड़ की आई आवाज।
टूटी नीद सपन भी टूटा, चला गया जो पाया राज ॥
जो कुछ देखा, कुछ न रहा अब, पड़ा अकेला केवल आप।
मैले फटे वस्त्र है वे ही, कौन इन्हे करता है साफ ॥
सत्ता नही, नही है शासन, देश नही था नगर नही।
सचिव नही है, महल नही है, छत्र नही है, चमर नही ॥
भोग नही, सुख प्रेम नही है, और नही बिल्कुल आनन्द।
केवल पश्चात्ताप बचा है, जिसका जागृति से सम्बन्ध ॥

स्वप्न और संसार

सपन समान जगत की माया, समझ नही पाते है हम।
हम कितने ही ऊँचे है पर, नही भिखारी से कुछ कम ॥
अस्थिर और अनित्य जगत पर, करते हम कितना विश्वास।
इसीलिए हम ले न पा रहे, सत्य ज्ञान का नया प्रकाश ॥
सोने पर सपना सच्चा है, जगने पर सपना झूठा।
जग झूठा उसको लगता है, जिसका मोह सपन टूटा ॥
भोगों का परिणाम बुरा है, महावीर ने बतलाया।
अनित्यता के द्वारा ऐसा, सत्य तत्त्व सम्मुख आया ॥

उपदेश का अवसर

नित्य अनित्य-भावना भावो, जावो नही सत्य से दूर।
अनित्यता के सम्मुख होती, अह भावना चकनाचूर ॥
किया गया है यह सर्वेक्षण, इसमे नही कही भी भूल।
मुरझायेगा गिर जायेगा, जो डाली पर खिलता फूल ॥

नही रहेगी सौरभ सुषमा, मिट्टी में मिल जायेगी।
उसी स्थान पर नवसुमनों की, नव कलियाँ खिल जायेंगी ॥
केवल आप नही हो भाई !, औरों का भी ध्यान रखो।
करो नही अपमान किसी का, सस्कृति का सम्मान रखो ॥
अन्य अनित्य नित्य गर तुम हो, तो कर सकते हो अभिमान।
किन्तु जन्म लेने वाले हम, है इन्सान सभी महमान ॥
प्रथम अनित्य-भावना भाकर, विनयी बन सकते हो आप।
धो सकते हो पूर्व पाप भी, लगा भावनाओं की छाप ॥
"मुनि गणेश शास्त्री" लिखता है, सरल भावना बोध महान।
सरलबोधि जीवात्माओ को, सरलतया हो जाये ज्ञान ॥
भाषा सरल, सरल पद्यावलि, सरल विवेचन भी संक्षिप्त।
क्यों न प्रकाश सरल हो जाता, मिलता सरल प्रदीप प्रदिप्त ॥

सबके लिए

जो है लिए स्वयं के सुखकर, वह औरों को सुखकर है।
जो है लिए स्वय के दुखकर, वह औरो को दुखकर है ॥
अन्तः सुख के लिए लिखा यह, सुख औरों को उपजाये।
नई दिशा दिखलाये ऐसी, नई भावनाएँ भाये ॥
प्रेरक श्रमण जिनेन्द्र साथ है, गुरु पुष्कर का आशीर्वाद।
"मुनिगणेश शास्त्री" रचना कर, करता प्राप्त परम आल्हाद ॥

☆

: २ :

अशरण-भावना

असुरक्षित अपने को मानो, नहीं भरोसा पलभर का।
कब न्योता आजाए भाई, उठ जाने को उस घर का ॥

बचा न पाते मात-पितादिक, बचा न पाते मित्र-कलत्र।
बचा न पाते स्वजन सनेही, यही अशरणता अत्र-परत्र ॥

2

अशरण-भावना

दोहा

धर्म ही शरण है

शरण ग्रहण किसकी करें, अशरण है संसार।
शरण शुद्ध जिनधर्म है, यही लगाता पार ॥
षट्खंडाधिप क्यों न हो, क्यो न स्वर्ग का नाथ।
सभी मृत्यु के सामने, बनते दीन अनाथ ॥
अमर अमरपति भी अमर, कब बन सकते अत्र।
शासन छाया मृत्यु का, एकछत्र सर्वत्र ॥
राजनीति मे जो निपुण, चलता जिनका चक्र।
वे भी कहते मृत्यु है, लिए हमारे वक्र ॥
नही मौत के सामने, खटपट आती काम।
डरता है संसार भी, सुन मरने का नाम ॥
समय स्थान स्थिति का नही, इस पर कुछ प्रतिवन्ध।
नही बकरी से जोड़ती, मृत्यु प्रेम संबंध ॥
देख रहे हम आँख से, प्रतिक्षण मरते लोग।
टाल सकेंगे हम भला, क्या मरने का योग ॥
आ जाता सिंह सामने, मृग बनता भयभीत।
क्या न मृत्यु के सामने, जीवों की यह रीत ॥
शस्त्र उठाकर सामने, जो डट जाये आप।
मृत्यु कभी क्या मानती, उसका तेज प्रताप ॥
तिनका मुख मे रख अगर, जो बन जाये दीन।
मृत्यु न उसको छोड़ती, है वह दयाविहीन ॥

सब पर समभाव

अभी अभी जिसने लिया, खुलकर पहला सांस ।
नही उसे भी मृत्यु ने, दिया दूसरा चांस ।।
अभी अभी जिसका हुआ, धूमधाम से व्याह ।
इसे उठाना या नही, लेता यम न सलाह ।।
खाने वाले हैं सभी, यही कमाता एक ।
मृत्यु उठा लेती उसे, उसमें कहाँ विवेक ।।
जैसे हमला बोलता, कोई तानाशाह ।
करती हमला मृत्यु भी, बनकर बेपरवाह ।।

चाहें जैसा हो

घर पर चाहे है लगा, मणि रत्नों का ढेर ।
आने में उसके यहाँ, मौत करेगी देर ? ।।
चाहे जिसके द्वार पर, प्रहरी खड़े सतर्क ।
वहाँ मृत्यु घुसती न क्या, समझ निकालो फर्क ।।
रिश्वत द्वारा निकलते, अड़े हुए सब काम ।
रिश्वत लेने से नही, मौत हुई बदनाम ।।
भले सिफारिश लाइये, भले लाइये पास ।
इन बातों पर मृत्यु ने, किया नही विश्वास ।।
भले क्यों न हो रूप मे, उत्तम देवकुमार ।
उसे छोड़ने के लिए, मृत्यु नहीं तैयार ।।
परमपूज्य आराध्य हो, चाहे हो आचार्य ।
इन्हें छोड़ दे समय पर, यह न मृत्यु का कार्य ।।
चाहे साधक सत हो, चाहे विद्यावान ।
समदर्शी[1] के सामने, सारे एक समान ।।

---

१ काल

भले दुष्ट हो शिष्ट हो, भले हृष्ट हो पुष्ट।
सब को दिखलाती न क्या, मृत्यु उठा अंगुष्ट॥
चाहे मिलने के लिए, जाता हो ससुराल।
देता मिलने का नही, समय मात्र भी काल॥

बड़े बडे भी देवता, हो चाहे आधीन।
मृत्यु उसे क्या छोडती, सोचो आप प्रवीन॥
चाहे सेवन कीजिए, सिद्ध रसायन शुद्ध।
जीत न पायेगे कभी, आप मृत्यु से युद्ध॥

भले हिमालय पर चढो, भले छिपो पाताल।
सदा आपके साथ में, क्या न घूमता काल॥

बुढापा भी नहीं टलता

चाहे रखते क्यों नही, आप अधिक संभाल।
श्वेत स्वत बनते न क्या, सिर के काले बाल॥
मरने से पहले न क्या, पड़ता शिथिल शरीर।
आने से पहले उसे, करती मृत्यु अधीर॥
छीना करती कान से, शब्द श्रवण की शक्ति।
निकट आ रही मृत्यु अब, क्या न यही अभिव्यक्ति॥
खाने से बनता न रस, रही न पाचन-शक्ति।
निकट आ रही मृत्यु अब, क्या न यही अभिव्यक्ति॥
भावो की होती नही, वाणी से अभिव्यक्ति।
क्या न यही दिखला रही, मृत्यु स्वय की शक्ति॥
रहा अछूता मृत्यु से, कहो कौन सा क्षेत्र।
ज्योति छोड़ते प्रथम ही, कमल सरीखे नेत्र॥
थर-थर थर-थर धूजते, सारे अग-उपांग।
आने से पहले न क्या, मौत दिखाती स्वांग॥

शुद्धि बुद्धि भी छीनती, कुछ दिन पहले आप।
स्मरण दिलाती मनुज को, किए हुए निज पाप ॥

ऐसा करो

भावो अशरण-भावना, जीवन करलो धन्य।
शरण चार उत्तम यहाँ, शरण न कोई अन्य ॥

उत्तम अशरण भावना, उत्तम इसका ज्ञान।
पढो अनाथीसत का, जीवन-ज्ञान-प्रधान ॥

राग—राधेश्याम

उद्‌गमस्थल

महिमाशाली मगधदेश के, मालिक का था श्रेणिक नाम।
वसुधाधिपति बना करते है, बहुत व्यक्तियों के विश्राम ॥
गया अश्व क्रीड़ा करने को, मडिकुक्ष वन में राजा।
बिना वनों के शहरों में कब, मिलता पवन तरो ताजा ॥
जाति जाति के विटपि जनों को, छाया फल देते भरपूर।
जो आता है पास उसी के, पास सभी वे कभी न दूर ॥
जाति जाति की बल्लरियों से, छाये हैं मंडप मनहर।
मनहर शहर नही मनहर घर, मनहरता बस रही इधर ॥
जाति जाति के विहग विराजित, गाते गीत मधुर स्वर से।
सर्व सुखाय प्रार्थना करते, प्रातः प्रातः प्रभुवर से ॥
झर-झर झरनो की आवाजें, अपने पास बुलाती है।
बैठो आकर आप यहाँ पर, गरमी अगर सताती है ॥
उस वन के कोने-कोने में, ध्यान समाधि लगाते संत।
आत्म-साधना द्वारा अपना, सरल बनाते संयम-पंथ ॥

मुनि दर्शन मिले

नृप ने देखा एक वृक्ष के, नीचे बैठे है मुनिवर।
जिनकी आकृति वर्ण, रूप, वय, यौवन, संयम, अति सुन्दर ॥

संयत सौम्य, विराग-भावना, विस्मय-कारक लगती है।
निर्भय-नम्र-निरीह-संत के, प्रति जिज्ञासा जगती है ॥
छोड़ अश्व को उतरा नीचे, आया मुनिपुगव के पास।
अजलिपुट बन मुनि के सम्मुख, करता मन के भाव प्रकाश ॥

भोग भोगने योग्य हो

आर्य ! आपकी उम्र अभी है, भोग भोगने के अनुकूल।
श्रमण-धर्म अपना कर करदी, क्या न भयकर कोई भूल ॥
क्या कारण ऐसा करने का, करो अनुग्रह बतलावो।
परिचय प्रथम प्रथम है अपना, फिर भी जरा न सकुचावो ॥

मुनि का उत्तर

मुनि बोले नृप ! इस दुनिया में, मेरा कोई नाथ नही।
नाथ बिना सुख भोग-भोगने वाली, बनती बात नही ॥
स्मित के साथ नृपति कहता है, कैसे हो प्रभु ! आप अनाथ।
जिन-सदृश संतों के मुख पर, नही शोभती ऐसी बात ॥
अगर न कोई नाथ आपका, चलो नाथ मैं बन जाता।
राजघराने से सुखपूर्वक, जोड़ो एक नया नाता।

जो स्वयं अनाथ है

मुनि बोले क्या नाथ बनोगे, जब तुम भी हो स्वय अनाथ।
निर्धन क्या धन दे पाता है, रात्रि न देती कभी प्रभात ॥
वंध्या पुत्र नही दे पाती, अज्ञ नही दे पाता ज्ञान।
सरल नही आमत्रण देना, सोचो अपना क्या है स्थान ॥

मैं मगधाधिप हूँ

मुनिवाणी सुन आकुल-व्याकुल, बनकर राजा बोल रहा।
मुझे नही पहचाना होगा ? मेरा जो कुछ मोल रहा ॥
मैं मगधाधिप श्रेणिक नरवर, विषय सभी मेरे आधीन।
सेना, स्वर्ग, स्त्रियाँ, सेवकजन, राज्य अग सारे सगीन ॥

नृप के योग्य सकल सामग्री, है उपलब्ध मुझे भगवन् ! ।
मृषा बोलते नही कभी भी, आप सदृश सच्चे मुनिजन ।।

मुनि बोले मेरे कहने का, समझ नहीं पाये भावार्थ ।
संतों की वाणी में अद्भुत, छिपा हुआ रहता परमार्थ ।।

आत्म-कथा

कौशाम्बी नगरी मे रहते; पूज्य पिताश्री धनसच्चय ।
सदुपयोग धन संचय का हो, शिक्षा देता सदा समय ।।

छोटे-बड़े बहन-भाई थे, भाग्यशालिनी थी माता ।
बचपन लाड़-प्यार में बीता, मुझे याद सब है आता ।।

यौवन ने जब दिया दिखावा, किया गया मेरा उद्वाह ।
परम्पराओ का होता है, सत्पुरुषों द्वारा निर्वाह ।।

पतिव्रता पत्नी से पाया, मैंने धार्मिक प्रेम महान ।
एक दूसरे के प्रति हम थे, आत्म-भाव से निष्ठावान ।।

दु.ख किसे कहते है ऐसा, अनुभव मैने किया नही ।
किसी वैद्य से किसी दवा का, कोई पुडिया लिया नही ।।

पीड़ा का प्रकोप

खेल रही थी खेल एक दिन, मित्र मडली मेरे साथ ।
उठी अचानक अक्षि-वेदना, रही न पीड़ा मेरे हाथ ।।

शक्तिमान शचिपति के द्वारा, मानो होता वज्रप्रहार ।
प्रगट नही कर पाती वाणी, पीड़ा का जो था परिवार ।।

ऊँचे वैद्यराज बुलवाये, किया गया औषधि-सेवन ।
वमन, विरेचन, मर्दन स्वेदन, लेकर किये गये लेपन ।।

पथ्य और परिचर्या की भी, पूर्ण व्यवस्था की सत्वर ।
सारे खर्च उठा लेने मे, जरा नही सकुचाया घर ।।

उपचार व्यर्थ गये

दवा न छोड़ी, वैद्य न छोड़ा, दौड़ादौड़ लगी दिन-रात।
रोग नहीं उपशांत हो सका, मानो जनमा मेरे साथ॥
माता भाई भगिनी पत्नी, अश्रुपात करते दिन-रात।
रोग मिटा देने की देखो, नही किसी के वश की बात॥

रोगी के भाव

मुझे न आती नीद एक क्षण, क्षणदा[1] कल्प समान बनी।
लगा सोचने हाय जिन्दगी, क्या तू कष्ट-प्रधान बनी॥
मै अंधा हो जाऊँगा क्या? जीवूंगा जीवन कैसे।
ऐसे उठती बुरी कल्पना, काम नही आते पैसे॥

आत्म-बल का उदय

गया ध्यान बाहर से भीतर, दीखा अपना आत्म-स्वरूप।
आत्मा चिन्मय अजर अमर पर, देह अनित्य रोग का कूप॥
सही वेदनाएँ भव-भव में, क्यों घबराऊँ रोऊँ मै।
जो मिट जाये उग्रवेदना, सुबह संत ही होऊँ मै॥
ऐसा निश्चय करके सोया, प्रात पीड़ा भाग गई।
पीड़ा से छुट जाने की विधि, पाई मैंने नई-नई॥

मै नाथ हो गया

कहा सभी से, सत बनूगा, है संकल्प सुदृढ मेरा।
नाथ नही कोई भी जग में, यहाँ अनाथों का डेरा॥
होता नाथ अगर कोई भी, तो पीड़ाएँ हर देता।
मुझे एक पल के खातिर भी, क्या न सुखी भी कर देता॥
आज्ञा लेकर घर वालो की, क्षमावंत अणगार बना।
अपना नाथ बना मेरे से, नाथ स्वतः संसार बना॥

---

१ रात्रि

उपदेश की किरण

नाथ-अनाथ स्वरूप बताया, सोचो समझो करो मनन ।
अपनी आत्मा कूट शाल्मली, अपनी आत्मा नन्दन-वन ॥
कामधेनु अपनी आत्मा है, अपनी आत्मा वैतरणी ।
अपनी करणी पार उतरणी, समझो सत्य सरल सरणी ॥
कर्त्ता हर्त्ता भोक्ता आत्मा, शत्रु मित्र भी है आत्मा ।
अन्तर-बहिर-महा-पर-पद से, जुड़ जाती अपनी आत्मा ॥
निर्मल समल सबल दुर्बल अति, पतित और आत्मा पावन ।
आत्म-ज्ञान का उदय न रुकता, चाहे हो भादों-सावन ॥
ज्ञान यही है ध्यान यही है, दर्शन यही यही निर्वाण ।
आत्मवाद का कर्मवाद का, आत्मा ही है परम प्रमाण ॥

उपदेश का फल

सुन उपदेश नरेश्वर श्रेणिक, पाता है सम्यग्-दर्शन ।
मुनिजी की वाणी में अद्भुत, भरा पड़ा था आकर्षन ॥
अपनी आत्मकथा के द्वारा, श्रेणिक को समझाया सत्य ।
समझ गये होगे हम सब भी, अनाथता का ऊँचा तथ्य ॥

पूर्ति और पाथेय

असुरक्षित अपने को मानो, नही भरोसा पल भर का ।
कब न्योता आ जाए भाई, उठ जाने को उस घर का ॥
बचा न पाते मात-पितादिक, बचा न पाते मित्र-कलत्र ।
बचा न पाते स्वजन-सनेही, यही अशरणता अत्र-परत्र ॥

दोहा

कच्चे जीवन-सूत्र की, यही कहानी स्पष्ट ।
अगर जगत में कष्ट है, मरण कष्ट अति कष्ट ॥
अगर मरण होता नही, होते नही अनाथ ।
करते नाथ-अनाथ की, कभी न कोई बात ॥

होते सब शैतान या, होते सब भगवान ।
अगर मरण होता नहीं, बच पाती सब शान ॥
'मुनि गणेश' करने लगा, रचना ज्ञान-प्रधान ।
करे ज्ञान का क्यों नही, हम आदान-प्रदान ॥
ज्ञान बांटने के लिए, खुला रखो भंडार ।
होता ही है ज्ञान का, विधि-पूर्वक विस्तार ॥
है यह अशरण-भावना, आगे करो प्रयाण ।
पता नही किस समय पर, लग जाये श्रुत-बाण ॥



जहेह सीहो व मिय गहाय, मच्चु नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥

—उत्तराध्ययन १३।२२

निश्चय ही अन्तकाल मे मृत्यु मनुष्य को वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिह मृग को। अन्तकाल के समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार (सहारा) नही होते।

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा ण णतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए ॥

—सूत्र० १।६।७

विवेकी मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अन्तर शोक को छोड़कर निरपेक्ष हो सयम का अनुष्ठान करे।

: ३ :

संसार-भावना

क्यों सहते हम जन्म-मरण दुख, जो होता संसार नहीं।
जो होता संसार नहीं तो, होते विषय विकार नहीं॥
होते विषय विकार नहीं तो, होते कोई पाप नहीं।
होते कोई पाप नहीं तो, हम होते क्यों साफ नहीं॥

3

संसार भावना

●

राग—राधेश्याम

संसार स्वरूप

जन्म-मरण के सिवा अन्य कुछ, है संसार स्वरूप नही ।
सुख-दुख योग-वियोग द्वन्द्व में, होते छाया धूप सही ॥
नारक, तिर्यक् मानव, निर्जर, गतियों मे संसार विभक्त ।
इन सब में होता रहता है, जन्म-मरण मानो हर वक्त ॥
गतियों में जो गिनी योनियाँ, वे सारी चौरासी लाख ।
भोगे जाते भाँति-भाँति से, जो कृत-कारित कर्मविपाक ॥
घिरा आधि से घिरा व्याधि से, उपाधियों से घिरा हुआ ।
कैसे ऊँचा उठ सकता है, जीवन का स्तर गिरा हुआ ॥
लिया नही हो जन्म जीव ने, बचा न ऐसा कोई स्थान ।
जाति योनि कुल बचा न कोई, ऐसा फरमाते भगवान ॥
दुःख जन्म का, दुःख जरा का, दु.ख मृत्यु का यहाँ महान ।
संसृति की गतिविधि स्थिति मानी, जाती केवल मोह-प्रधान ॥

नरक और निगोद

यमदूतों के हाथों से क्या, खाई नही करारी मार ।
जहाँ नही यमदूत, परस्पर, करते अपने आप प्रहार ॥
जीव अनत साथ में रहते, धारण करके एक शरीर ।
महावीर प्रभु ने बतलाया, स्थान निगोद महागभीर ॥
पांच स्थावरो मे जब जनमा, एकेन्द्रिय पाया केवल ।
छेदन-भेदन-ताड़न-शोषण, ज्वलन-चलन का दुःख प्रबल ॥

द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय बन, सुख-दर्शन किसने पाया ।
कैसी काया कैसा जीवन, यह सब कर्मों की माया ॥
पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच योनि में, कष्ट विविध पाया जाता ।
पराधीनता को ठुकराकर, कही नही जाया जाता ॥
मानव जन्म मिला सुकृत से, नही यहाँ भी सुख आराम ।
हाय हाय करती है दुनिया, दिखता नही शांति का नाम ॥

बाल्यकाल के कष्ट

गर्भकाल के कष्ट उठाये, प्रसवकाल के देखे कष्ट ।
बचपन के कष्टों को कोई, नहीं कभी कर पाया स्पष्ट ॥
सिवा रुदन के साधन कोई होता शिशु के पास नही ।
किसी वस्तु की विकृतियों का, होता पूर्वाभ्यास नही ॥
खाना पीना सोना जगना होता, कब शिशु का स्वाधीन ।
पराधीनता के दु:खों की, परिभाषा है परम महीन ॥
पराधीनता दूर हुई कुछ, पराधीनता अधिक बढ़ी ।
पर इच्छाएँ पर[1] वाली बन, शिशु के सर पर स्वत: चढ़ी ॥
करो वही जो उन्हें सुहाये, बोलो चलो पियो खाओ ।
घरवालों की इच्छा हो तो, आप कही जाओ आओ ॥
स्वतंत्रता का हनन स्पष्ट है, जाता इस पर ध्यान नही ।
क्योकि यहाँ तक अभी हमारा, पहुँच सका विज्ञान नही ॥

कष्टमय यौवन

यौवन के कष्टों का कोई, माप नही है अपने पास ।
विषय-विकार उभरते अंदर, उनसे रुकता आत्म-विकास ॥
पाणिग्रहण का नाम लगाकर, पराधीनता स्वीकारी ।
नारी से नर हार गया है, नर से हार गई नारी ॥

---

१ पखोवाली

एक दूसरे की इच्छा से, गये जरा भी जो विपरीत।
प्रगट सामने आ जाती है, सच्ची झूठी जो थी प्रीत ॥
भोग थकाते, रोग थकाते, लोग थकाते ताना मार।
थकित व्यक्ति शकित जीवित है, युवकों का कैसा संसार ॥

बुढ़ापा एक मौत

वृद्धावस्था के दु:खों की, स्पष्ट कहानी कहती देह।
जो जीवन साथिन कहलाती, वह काया दिखलाती छेह ॥
जीने की इच्छा हट जाती, इच्छा होती मरने की।
क्योकि भावना रही न जीवित, दुनिया मे कुछ करने की ॥
निभजाएँ तो अच्छा है बस, जीने मे कुछ सार नही।
सार नही घरवाले करते, विनयशील परिवार नहीं ॥
सेवाओं से क्या सधता है, शक्ति स्वयं की टूट गई।
कैसे डोल निकाले पानी, रस्सी कर से छूट गई ॥

विचारात्मक दु:ख

एक दूसरे की ईर्ष्या से, जलते रहते हृदय सदा।
एक-दूसरेसे आपस मे, जीव सभी है सभय सदा ॥
इसे मनाऊँ इसे रुठाऊँ, इसे दबाऊँ दाव लगा।
किसे दिखाऊँ क्या बतलाऊँ, कितना गहरा घाव लगा ॥
इसे निभाऊँ या भगजाऊँ, मैं खुद इसको छोड़ कही।
मेरी सारी गुप्तमत्रणा, देगा कोई फोड कही ॥
अर्थोपार्जन मे कितने ही, करने पड़ते बड़े अनर्थ।
अर्थाभाव खटक जाने पर, जीना भी हो जाता व्यर्थ ॥
दशों दिशाएं सूनी लगती, कही नही मिलता सहयोग।
तब कितने खारे लगते है, मन को सासारिक-सुख-भोग ॥

अनन्त काल से

पिंजर मे फस जाने पर ज्यो, पक्षी बन जाता विभ्रान्त।
देहस्थित प्राणी दु खों से, ऐसे पूर्णतया आक्रान्त ॥

काल अनन्त हो गया ऐसे, जन्म-मरण धारण करते ।
बहुत-बहुत आश्चर्य यही है, जीव नही फिर भी डरते ।।
यह संसार-भावना भावो, छुटकारा पा जाने को ।
गुणिजन मुनिजन जो कहते है, कहते हैं समझाने को ।।
यह संसार-भावना भाई, मृगा-पुत्र जी ने मन खोल ।
श्रवन खोलकर सुनो पढो यह, जीवन कितना है अनमोल ।।

कहानी का स्रोत

पुर सुग्रीव सुशोभित होता, सुन्दर वन उद्यानों से ।
सजता शहर मकानों से ज्यों, सजता सुन्दर स्थानों से ।।
था बलभद्र नृपति अति न्यायी, सुखदायी सब लोगों को ।
सभी चाहते सराहते है, प्राप्त सुखद संयोगों को ।।
मृग सम विस्तृत नैत्र मृगा के, प्रियंवदा थी पटराणी ।
अच्छी स्त्रियाँ उन्हें मिलती जो, करणी कर आते प्राणी ।।
पुत्र नाम बलश्री कहलाया, मृगापुत्र जनजन द्वारा ।
पथिकों के संबल सम प्यारा, मात-पिता को सुत प्यारा ।।
रहा गृहस्थाश्रम में तब भी, सयति के गुणवाला था ।
दमीश्वरों मे अग्रगण्य सम, उसका स्थान निराला था ।।
शिखर बध प्रासादों मे वह, दोगुन्दुक सुर सम सुख-भोग ।
विनयवती वनिताओं के सह, पाता सुख के नये प्रयोग ।।
रत्नजटित महलों की शोभा, शोभा मे करती अभिवृद्धि ।
सिद्धि-रिद्धि मिलने को आती, जहाँ सिद्धि रहती हो ऋद्धि ।।

मुनि-दर्शन

बैठा हुआ झरोखे में वह, देख रहा था नगर समस्त ।
इधर निकलने वालों में से, कौन सुखी अथवा संत्रस्त ।।
मध्य चौक पर नजर पड़ी तब, देखा साधु जा रहे एक ।
ऐसा रूप कही पर देखा, जागा ऐसा स्वतः विवेक ।।

परिणामों की सुन्दरता से, टला मोहपट ज्ञान मिला।
पूर्वजन्म की संस्मृतियों का, मानो नया निधान मिला॥
पूर्वजन्म में जो पाले थे, पांच महाव्रत आये याद।
किये गये उत्तम भोजन का, कौन भूल सकता है स्वाद॥

दीक्षा की तैयारी

उतरे अपने महलों से अब, आये मात-पिता के पास।
मुझे अनुज्ञा देदो दीक्षा, लेकर करूँ संयमाभ्यास॥
बोले मात-पिता सुन बेटे! समय भोग का यह सारा।
त्याग-मार्ग अपनाया जाता, वृद्ध अशक्तो के द्वारा॥
भोग सभी किंपाकोपम है, कटुकविपाकी अशुचि अनित्य।
दु:ख हेतु जो हो उनका हम, स्वीकारे कैसे आतिथ्य॥
क्लेश रोग जर्जरता का जो, भाजन कहलाती काया।
पता नही कब दगा दिखाये, इस पर फिर कैसी माया॥
जल बुद्‌बुद सम कुंजर श्रुतिसम, अथवा संध्या-राग समान।
स्नेहराग इस पर करना ही, माना जाता दुखप्रधान॥
पथिक क्षुधातुर प्यासातुर बन, पीड़ित होता बिन पाथेय।
परभव जाते समय जीव को, धर्म-रूप संबल आदेय॥
घर मे अगर आग लग जाये, सार निकाला करते लोग।
दावानल सम सुलग रहा जग, भोगे जाएँ कैसे भोग॥
रत्नतुल्य आत्मा को बाहर, क्यो न निकाले संभाले।
जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों सम सारे, विषयो भोगो को टाले॥

संयम की दुष्करता

संयम सुकर नही है बेटे!, दुष्कर अति दुष्कर मानो।
दशधर्मो का पालन करना, क्या नानी का घर जानो॥
पूर्ण अहिंसा पूर्ण सत्यव्रत, व्रत अस्तेय निभाना है।
ब्रह्मचर्य अपरिग्रह व्रत से, जीवन साज सजाना है॥

परीषहों को सहना रहना, समभावों के साथ सदा।
बात एक दिन की न समझना, ऐसी ही है बात सदा ॥
नीरस सरस विरस रस पाकर, राग-द्वेष करना न कभी।
जीते जी मर जाना होता, मर करके मरना न कभी ॥
तू सुकुमार सुखोचित सुन्दर, सुना कष्ट का नाम नही।
सयम लेना यति होना यह, पुत्र! तुम्हारा काम नही ॥
दांत मोम के चने लोह के, सुनो चबाना सरल नही।
महादेव ने भले पी लिया, पीया जाता गरल नही ॥
अभी नही लो फिर ले लेना, जब तुम भोग चुको सुख-भोग।
वृद्ध मनुष्यों के हित में यह, रखा गया है एक प्रयोग ॥

मैं ऐसा करूंगा

संयम मेरे लिए सुकर है, मैं विषयों से पूर्ण विरक्त।
मुझे याद है मैंने काटा, कितना कष्टमयी वह वक्त ॥
नारकीय कष्टों के सम्मुख, सयम के कुछ कष्ट नही।
मैने जातिस्मरण से पाया, लगता अब अस्पष्ट नही ॥

मृगचर्या

बेटे! रोग सतायेगे जब, होगा हाल तुम्हारा क्या।
साधुजनों को संयम जीवन, कहो न लगता प्यारा क्या ॥
वन मे रहने वाला मृगशिशु, जब हो जाता है बीमार।
वृक्ष मूल में रहकर अपना, लेता सारा समय गुजार ॥
बन कर स्वस्थ विचर कर वन मे, प्राप्त किया करता आहार।
नही किसी की स्तुति-निन्दा है, नही किसी पर बनता भार ॥
नही अपेक्षा नही उपेक्षा, रक्षा संयम की आदेय।
मैं विचरूंगा मृगचर्या से, छोड़ूंगा न लिया जो ध्येय ॥

अहासुह देवाणुप्पिया

अहासुहं देवाणुप्पिय! सुन, मृगापुत्र ने ली दीक्षा।
भा करके ससार-भावना, सबको दी सुन्दर शिक्षा ॥

सुख-दुख जीवन-मरण प्रशंसा, निंदा में रहकर समभाव।
मृगापुत्र मुनिजी ने साधा, अपना आत्मिक सहज स्वभाव ॥
उदाहरण द्वारा यही, किया गया है स्पष्ट।
समझो यह संसार ही, उग्र उग्रतम कष्ट ॥

अपना अज्ञान

"लालापानमिवाङ्गुष्ठे" की, भोग रहे स्थिति संसारी।
प्यारी खारी खारी प्यारी, बतलाती मति मतवारी ॥
नशा मोह का उतरेगा जब, स्पष्ट स्वत होगा संसार।
फिर सूझेगा भवसागर से, कैसे उतरेगे अब पार ॥
अघेरे में पड़ी वस्तु भी, अपने हाथ नही आती।
मोहबुद्धि जीवन को उलटी-अंवली गति में ले जाती ॥
घूम रहा ससार चक्र यह, शकटचक्र सम ज्ञान करो।
घूम रहे है सभी जीव हम, स्थिर होने का स्थान करो ॥
मोह अनल को शांत करो तुम, ले करके वैराग्य सलिल।
बड़े जोर से सुलग रहा है, देखो यह ससार-अनिल ॥
शकटचक्र को यथा घुमाती, बैलों की जोड़ी दिन-रात।
जगत् चक्र को घुमा रहे हम, राग-द्वेष का देकर साथ ॥
जागो त्यागो राग-भावना, खारा जो लगता ससार।
सार नही किंचित् भी इसमे, पूर्णतया ससार असार ॥
सार अगर इसमे होता तो, त्याग नही करते अरिहंत।
श्री अरिहंत नही बतलाते, इसे त्यागने वाला पथ ॥
क्यो सहते हम जन्म-मरण दुख, जो होता ससार नही।
जो होता ससार नही तो, होते विषय-विकार नही ॥
होते विषय विकार नही तो, होते कोई पाप नही।
होते कोई पाप नही तो, हम होते क्यो साफ नही ॥

दोहा

स्पष्ट आ गया सामने, अब संसार स्वरूप।
सभी समझते स्पष्ट ज्यो, यह छाया यह धूप ।।
जब जागे तब ही हुआ, मानो नया प्रभात।
श्रवण मनन से समझिए, सत्य धर्म की बात ।।
"मुनि गणेश" लेते रहो, जो भी मिलता सार।
माल मिला करता न क्या, अगर खुला बाजार ।।



: ४ :

एकत्व-भावना

पुद्गल पर से प्रेम हटालो, जोड़ो आत्मा से सम्बन्ध ।
फूटेगी एकत्व तत्त्व की, कस्तूरी सम वन में गन्ध ॥

परमाराध्य उपास्य हमारा, श्रुत एकत्व विचारों का ।
इसे बढ़ाकर सूत्रपात हम, करदें क्यों न सुधारों का ॥

4

एकत्व-भावना

दोहा

तत्त्व मात्र एक

निर्मल चौथी भावना, देती है एकत्व।
तत्त्व मात्र ही एक है, आँका जाय महत्त्व ॥
"एगे आया" पाठ से, प्रगट हुआ एकत्व।
भिन्न नही एकत्त्व से, जगन्मात्र के तत्त्व ॥
आत्माएँ सब एक है, गुण भी उनके एक।
एक अवस्थाएँ सभी, एक दृष्टि से देख ॥
धर्माधर्माकाश क्षण, पुद्गल आत्मा एक।
षड्द्रव्यात्मक लोक क्या, होता कभी अनेक ॥
लोकाकाश प्रदेश से, विरहित एक अलोक।
मिलता है एकत्त्व से, हमको ज्ञानालोक ॥
ज्ञान ज्ञान सब एक है, दर्शन दर्शन एक।
चारित्रो की एकता, देती विमल विवेक ॥
ध्यान-ध्यान सब एक है, वीतरागता एक।
एक एक छद्मस्थता, बन्ध न मोक्ष अनेक ॥
आश्रव संवर एक है, एक निर्जरा जान।
पुण्य पाप भी एक है, दो न एक के स्थान ॥
जन्म-जाति-गति-मृति-स्थिति, योग तथा उपयोग।
इन सब पर एकत्त्व का, देखे करे प्रयोग ॥

आत्म-प्रदेशों में भरा, तत्त्व वड़ा एकत्त्व ।
अलग न रहते निकलते, समझो क्यों न महत्त्व ॥

अनेकत्त्व कल्पित है

अनेकत्व कल्पित सकल, सार्थक नही ममत्त्व ।
अव्याकुलता दे रहा, परमतत्त्व एकत्त्व ॥
किया गया पर-वस्तु पर, सत्य नही अपनत्त्व ।
विषयावेशों से बना, कहलाता मिथ्यात्त्व ॥
आये जाये जो नही, जीवात्मा के साथ ।
वे सारी पर-वस्तुएँ, सीधी-साधी बात ॥
आये जाये जो रहे, जीवात्मा के साथ ।
वे सारी निज-वस्तुएँ, सीधी-साधी बात ॥
जो न उपजता विनशता, है वह आत्म-स्वभाव ।
उपजे विनशे जो सभी, माने गये विभाव ॥

स्वभाव की स्पष्टता

कभी उपजते रोग तो, होते कभी विनष्ट ।
रोग न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥
कभी उपजते शोक तो, होते कभी विनष्ट ।
शोक न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥
कभी उपजते दु.ख तो, होते कभी विनष्ट ।
दु:ख न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥
कभी उपजता मोह तो, होता कभी विनष्ट ।
मोह न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥
कभी उपजता राग तो, होता कभी विनष्ट ।
राग न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥
कभी उपजता द्वेष तो, होता कभी विनष्ट ।
द्वेष न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजती रति-अरति, होती कभी विनष्ट ।
आत्म-स्वभाव न रति अरति, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता क्रोध तो, होता कभी विनष्ट ।
क्रोध न आत्मस्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता काम तो, होता कभी विनष्ट ।
काम न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता है अह, होता कभी विनष्ट ।
आत्म-स्वभाव नही अह, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता लोभ तो, होता कभी विनष्ट ।
लोभ न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता है कपट, होता कभी विनष्ट ।
कपट न आत्म-स्वभाव है, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजता भ्रमतमस्, होता कभी विनष्ट ।
आत्मस्वभाव न भ्रमतमस्, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

कभी उपजती कामना, होती कभी विनष्ट ।
आत्मस्वभाव न कामना, सत्य हो रहा स्पष्ट ॥

एकत्व की बाधाएं

कौड़ी कौड़ी जोड़कर, जोड़ा जो भंडार ।
इस धन ने एकत्त्व पर, पहला किया प्रहार ॥

तन को अपना मान कर, किया प्राण सम प्यार ।
इसने उठने ही नही, दिये स्वतंत्र विचार ॥

मात-पिता-स्त्री-सुत स्वजन, पर जो भी ममकार ।
अनेकत्त्व की गूंजती, मधुर-मधुर झंकार ॥

मरने वाला मै नही, मन का यह अभिमान ।
रखता क्या एकत्त्व के, लिए कही भी स्थान ॥

सत्ताधारी मैं सुखी, पंडित परम प्रवीण।
हो जाती एकत्त्व की, बात यही पर क्षीण॥
जब संकल्प-विकल्प की, मन पर जमती धूल।
पड़ती है एकत्त्व पर, प्रतिक्रिया प्रतिकूल॥
इधर-उधर भटकाव में, जो नर है दिग्मूढ़।
सुनते वे एकत्त्व की, कथा न कोई गूढ॥

एकत्व के साधन

मिल मिट्टी में स्वर्णकण, बनते यथा अशुद्ध।
मिल करके परद्रव्य में, बनता आत्म अबुद्ध॥
हट मिट्टी से स्वर्णकण, बन जाते है शुद्ध।
अनेकत्त्व से हट तथा, बनता आत्मप्रबुद्ध॥
विरस न विषयातीत सुख, करो पूर्ण पहचान।
मिलता है एकत्त्व से, शाश्वत सिद्धि स्थान॥
क्षणिक विषय सुख-दु.ख का, माना गया निदान।
इसके द्वारा फैलता, अनेकत्त्व अज्ञान॥

ज्योत्स्ना के कण

जन्म समय भी एक था, मृत्यु समय भी एक।
हो सकता कैसे वही, जीते समय अनेक॥
किसका साथी कौन है, उत्तर दो सक्षिप्त।
हुआ नही एकत्त्व से, चित्त कभी विक्षिप्त॥
मै न किसी का हूँ यहाँ, मुझ से सारे भिन्न।
मुझे न बनना चाहिए, लिए किसी के खिन्न॥
किये हुए निज कर्म का, भोग न भरता अन्य।
आता है शिशु के लिए, सहज भाव से स्तन्य॥
आत्मा के कल्याण की, सोची जाये बात।
होता परकल्याण कब, कभी पराये हाथ॥

आया जब लाया नहीं, कुछ भी अपने साथ।
जायेगा तब है नही, ले जाने की बात॥
जो पर था वह घर बना, लिए गये संबंध।
दूर हुआ एकत्त्व से, टूट गया आनन्द॥
मेरे तेरे ने तुरत, घेरा डाला स्पष्ट।
तत्त्व हुआ एकत्त्व का, पर से घिरकर नष्ट॥
मिले एक से दो वहाँ, वहीं कलह का स्थान।
उदाहरण नमिराज का, देता सुन्दर ज्ञान॥

राग : राधेश्याम

नमिराजर्षि

नमिशासन मे सुख पाते थे, मिथिलानगरी देश विदेह।
सुख न वहाँ पर पाया जाता, पाला जाता जब संदेह॥
एक हजार रानियो का सुख, सुख नन्दन का था पाया।
वही खोलकर खायेगा जो, भत्ता साथ बंधा लाया॥
तनसुख, धनसुख, सुख शासन का, परिजनसुख, सुख सुवचन का।
सुख देने से सुख मिलता है, वचन सही जिन प्रवचन का॥

पीड़ा और प्रबोध

नमिराजा को दाहज्वर की, बीमारी ने घेर लिया।
ज्वर की पीड़ा ने पीड़ित बन, पीड़ाओं का ढेर किया॥
औषधियो का अनुपानो का, चिकित्सको का पूर्ण प्रबंध।
पीड़ा व्रीड़ा[1] रहित हो गई, होती ज्यों कुलटा स्वच्छन्द॥
चन्दन घिसने मे तत्पर है, मिलकर सारा अंतेउर।
कंकण की खनखन आवाजे, सुनकर जाग गया सुर-पुर॥

आवाज बन्द

नमि बोला मुझको न सुहाती, खन-खन की इतनी आवाज।
पटरानी ने जाकर तत्क्षण, कहा बदलने को सुख-साज॥

---

१ लाज

एक-एक चूड़ी हाथों में, अब न कहीं पर उठता शब्द ।
तत्त्व महत्त्वपूर्ण इस पर से, नमि को हुआ स्वतः उपलब्ध ।।
दो है जहाँ वहाँ झगड़ा है, मैं भी बनूं अकेला अब ।
जिनकल्पाचारी संतों ने, ढूंढा बोलो चेला कब ।।

दीक्षा और संवाद

त्यागा राज्य प्राज्य सुखवाला, निकले नमि बन करके सन्त ।
दिखलाता प्रत्येकबुद्ध को, कोई नही मोक्ष का पन्थ ।।
वेष विप्र का धारण करके, हुआ उपस्थित सम्मुख शक्र ।
शंका और समाधानों का, गया घुमाया विस्तृत-चक्र ।।
स्तुति देवेन्द्र स्वय करता है, नमिराजा के समता की ।
जड़े काट दी गईं सभी वे, जो परिपोषक ममता की ।।
किया सिद्ध एकत्व तत्वतः, दूर ममत्त्व हुआ सारा ।
अनेकत्व के दाहज्वर से, मुक्त हुआ चेतन प्यारा ।।
शुचि एकत्व-भावना पर बल, देता है नमि का आख्यान ।
शांत दांत निर्भ्रान्त चित्त क्यों, देगा नहीं स्वयं पर ध्यान ।।

मेरी ओर से

"मुनि गणेश शास्त्री" लिखता है, यह एकत्व-भावना शुद्ध ।
अनेकत्व के साथ छेड़िए, क्यों न आंतरिक अपना युद्ध ।।
पुद्गल पर से प्रेम हटा लो, जोड़ो आत्मा से संबंध ।
फूटेगी एकत्व तत्त्व की, कस्तूरी सम वन में गंध ।।
परमाराध्य उपास्य हमारा, श्रुत एकत्व विचारों का ।
इसे बढ़ाकर सूत्रपात हम, कर दे क्यों न सुधारों का ।।
चिन्तनपूर्ण भावना पर ये, लिखी गई पद्यावलियाँ ।
पूर्ण विकस्वर कर पायेगी, जीवन की कोमल कलियाँ ।।
जो कुछ पढ़कर पाये उसको, पहुँचाएँ जन-जन के पास ।
केवल अपने पास रखा तो, रुक जायेगा ज्ञान-विकास ।।

□

: ५ :

अन्यत्व-भावना

हँसने और हँसाने वाला, नित्य नया उल्लास बनो ।
लेंगे लोग उजास पास आ, अपने लिए उजास बनो ॥
त्रास मिटा न सको गर पर की, परहित मत संत्रास बनो ।
सुदृढ़ बनाने आत्मभाव को, सहज सुदृढ़ अभ्यास बनो ॥

5

अन्यत्व-भावना

दोहा

अन्यत्व क्या है ?

जो कुछ है तेरे सिवा, वे सारे हैं अन्य ।
स्वत्व और अन्यत्व का, चिन्तन कर बन धन्य ॥
दोनों मे से एक पर, चिन्तन कर तू स्पष्ट ।
लिए दूसरे के नही, करना होगा कष्ट ॥
चेतन जड़ मे से यथा, किया एक का ज्ञान ।
नही दूसरे की कभी, छुप सकती पहचान ॥
नेति-नेति कहते चलो, जो रहता अवशिष्ट ।
आत्मतत्व नवनीत सम, होता प्रगट विशिष्ट ॥
चला ढूंढने तू किसे, तेरा तेरे पास ।
रे आत्मन् ! अन्यत्व का, कर दृढतम अभ्यास ॥
चेतन-तन की भिन्नता, पूर्णतया पहचान ।
सम्यग्दर्शन प्राप्ति का, गुणस्थान सुख स्थान ॥
तू तेरा ही शत्रु है, तू तेरा ही मित्र ।
शत्रु मित्र कोई नही, यह अन्यत्व विचित्र ॥

पुद्गल प्राप्ति का प्रयास

जिसको पाने के लिए, करता सतत प्रयत्न ।
वे पुद्गल तेरे सिवा, तू क्यों कहता रत्न ॥

तू डरता जिसके लिए, कही न जाये छूट।
हुई नही होगी नही, धन की राशि अखूट ॥
जिसको पाकर स्पर्श कर, पाता तू आनन्द।
मन्द बन्द होता वही, सकल पुद्गलानन्द ॥

जो तू रहता सोचता, वह क्या तेरा कार्य।
वैसा करने के लिए, विधि करती स्वीकार्य ॥
जिसे चित्त से चाहता, क्या वह होता प्राप्त।
प्राप्त हुआ होता न क्या, बतला कभी समाप्त ॥
जिसके लिए लुटा रहा, तू जीवन-धन प्राण।
उससे क्या तेरा कभी, सध सकता कल्याण ॥
नहीं पास में धन अगर, फिर भी देता कष्ट।
आकर सुख देगा तुझे, कैसे जाना स्पष्ट ॥
चुभकर कांटि कांच ने, दिया पाँव को कष्ट।
दिया पुद्गलों ने न क्या, कष्ट जीव को स्पष्ट ॥
कभी एक बनती नही, म्यान और तलवार।
आत्मा पर अन्यत्व पर, कर संपूर्ण-विचार ॥
क्षण में जुड़ता टूटता, जो कृत्रिम संबंध।
द्वन्द्व रहित अन्यत्व से, पा तू परमानन्द ॥
काम भोग सब अन्य है, भोक्ता उनका अन्य।
बन सकता अन्यत्व के, बिना न जीवन धन्य ॥
हुआ कदर्थित व्यर्थ में, पा कर्मों का संग।
क्यों न उतरता संग का, चढ़ा पुराना रंग ॥
गुणकेतन चेतन बिना, पर है सारे द्रव्य।
श्रोत्र पड़ौसी नेत्र के, लिए न कुछ भी श्रव्य ॥
गति न जाति इन्द्रिय नही, प्राण नही पर्याय।
चेतन के पहचान का, सब से सरल उपाय ॥

शब्द रूप रस गंध का, जिस पर नही प्रभाव ।
चिदानंद चेतन सहज, शाश्वत ज्ञान स्वभाव ।।
उपयोगी आत्मा स्वय, देहादिक से भिन्न ।
जिसे जानने के लिए, स्थिर है चिति का चिन्ह ।।

इस पर पूर्ण प्रतीति को, समकित कहते सत ।
पहचानें उसको न क्यों, दर्शन रूप अनंत ।।

स्थिरता सहज स्वभाव की, कहलाता चारित्र ।
चारित्रात्मा है सदा, आत्मा का सन्मित्र ।।

अकेला जायेगा

जायेगा जब साथ मे, जायेगी क्या देह ।
ढेरी होगी राख की, रहा नहीं संदेह ।।

नही किसी के साथ मे, जा सकता परिवार ।
मन से ममता मोह का, पर्दा दूर उतार ।।

रूप गया यौवन गया, गई देह की शक्ति ।
गई नही मन मे रही, इन सब की आसक्ति ।।

सभी जीव यात्री हैं

अपने अपने स्थान को, जाते यात्री लोग ।
मिल जाते हैं मार्ग में, नदी नाव सयोग ।।

कौन यहाँ आया गया, रखता कौन हिसाब ।
नही किसी के नाम की, मिलती यहाँ किताब ।।

प्रतिपल चलते हैं सभी, रुकने का क्या काम ।
मिट जाता संसार से, मिला हुआ जो नाम ।।

आज गया वह कल गया, कल जायेगा अन्य ।
चल देता ज्यों बरस कर, उठा हुआ पर्जन्य[1] ।।

---

१ मेघ

एकतरफा अनुराग

किया पुद्‌गलों ने नही, आत्मा से अनुराग ।
पुद्‌गल पर अनुराग का, तू भी कर दे त्याग ॥
नियतवियोगी द्रव्य का, तज आत्मन् ! संयोग ।
कर मत आत्मा के लिए, पुद्‌गलजन्य प्रयोग ॥
मृग तृष्णा से क्या बुझी, कभी किसी की प्यास ।
पर-द्रव्यों से कब हुआ, चिन्मय सहज प्रकाश ॥

राग : राधेश्याम

वर अन्यत्व भावना भाओ, पाओ मन में परमानन्द ।
उदाहरण लो भरतेश्वर का, चेतन ! चिन्तन करो अमन्द ॥

भरत चक्रवर्ती

प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर, प्रभुता का करते उपभोग ।
भरतखंड के षट्‌खण्डों पर, स्थिर शासन का प्रथम प्रयोग ॥
ऋषभदेव भगवान पिता थे, भाई बाहुबली बलवान ।
नव निधि चौदह रत्न दे रहे, प्रबल पुण्य का प्रबल-प्रमाण ॥

आरीसा भवन

एक बार सज्जित हो करके, बैठे थे सिंहासन पर ।
स्वर्गलोक भी लज्जित होता, देख देख आरीसा-घर ॥
द्रव्य सुगंधित की गंधों से, मन आनंदित था भारी ।
यान्त्रिक वाद्यो के मधुरिम स्वर, सृष्टि मधुर करते सारी ॥
शीतल पवन लहर से सारा, भवन हो रहा शीतलतम ।
केवल इच्छा करने का ही, यथा देवता करते श्रम ॥

एक बींटी निकल पड़ी

श्रेष्ठ मुद्रिकाएँ पहनी थी, सुन्दर कर-शाखाओ मे ।
उनकी शोभा लिखी न जाती, काव्यो मे, व्याख्याओं मे ॥
देखो जिधर उधर ही अपना, रूप नजर आता सारा ।
अपना रूप काव्य अपना फिर, सबको लगता अति प्यारा ॥

एक अंगुली में से निकली, वींटी गिरी धरातल पर।
सूनी लगने लगी अकेली, शरमा गई स्वयं पलभर ॥

सबको उतार डाला

ध्यान भरत का गया तुरत ही, सोचा यह क्या सूनापन।
अंगुलीयकों से ही लगता, अंगुलियों का अच्छापन ॥
एक-एक कर सभी उतारी, लगे देखने हाथों को।
ओझल करते नही सुज्ञजन, छोटी-छोटी बातो को ॥
अलंकरण सब गये उतारे, उतर गई शोभा भी साथ।
पर-पुद्गल की सारी माया, स्पष्ट समझ में आई बात ॥

चिन्तन की परम्परा

सोना निकला प्रथम खान से, शुद्ध हुआ शृंगार बना।
बनी मुद्रिकाएँ कुछ सुन्दर, सुन्दर स्वर्णिम हार बना ॥
वींटी से अंगुलियाँ सुन्दर, अगुलियों से सुन्दर कर।
कर से सुन्दरतम है काया, सुन्दरता षट करो नजर ॥
काया सुन्दर गौर वर्ण से, आकृति से है सुन्दर वर्ण।
आकृति सुन्दर सत्कृति से है, सत्कृति धर्मफलद[1] का पर्ण[2] ॥
हाड़-मास के इस पुतले मे, सुन्दरता का वास नहीं।
सुन्दरता का पता न लगता, जो आये वह श्वास नही ॥
क्या काया को अपना मानू, वृथा नही क्या मोह-ममत्व।
मेरे से ये सभी भिन्न है, तत्त्व स्पष्ट होता अन्यत्व ॥
अगर नही है मेरी काया, तो मैं क्यों इसका होऊँ।
मुझे छोड़कर यह जाये तो, क्यों फिर मैं इसको रोऊँ ॥
देह नही जब है अपनी तो, स्त्रियाँ पुत्र कैसे अपने।
राज्य महान निधान रत्न ये, सभी नही क्या है सपने ॥

---

१ धर्म-वृक्ष
२ पत्ता

कष्ट-साध्य षट्खंड साधकर, जो पाया वह अन्य सभी।
इनके द्वारा हुआ नही हो-पाऊँगा मैं धन्य कभी ॥

कैवल्य पा लिया

इससे बढ़कर और दूसरा, क्या भ्रम होगा क्या अज्ञान ?।
पर को पर न समझ पाता मैं, भरतेश्वर क्या बना महान ॥

धन पर, तन पर इन तनयों पर, प्रमदाओं पर राग नही।
बिना राग के द्वेष नही है, ज्यों सलिलान्तः आग नही ॥

मैं हूँ एक-एव शुद्धात्मा, चिन्तन शुद्ध चला क्षणभर।
क्षण-भर चिन्तन मन्थन द्वारा, मोह न रह पाया कण-भर ॥

दिव्य ज्योति दिखलाने वाला, पल में पाया केवलज्ञान।
भरत केवली को देवों ने, श्रमण-वेष कर दिया प्रदान ॥

प्रकाश और विश्वास

शुभ अन्यत्व-भावना का बल, जीवन को बल देता है।
फलद तभी फल देता माली, उचित समय जल देता है ॥

भाव वास्तविकता को समझो, जीवन से न निराश बनो।
कहने का तात्पर्य यही है, पर से नित्य उदास बनो ॥

धन सत्ता, प्रभुता यौवन के, नही कभी भी दास बनो।
व्यसन-वासनाधीन दीन बन, नही स्वयं उपहास बनो ॥

जिनका कोई सखा न साथी, उनका शुभ सहवास बनो।
जो जीवन से हार गए है, उनके श्वासोच्छ्‌वास बनो ॥

प्राणिमात्र से प्रेम करो पर, नही किसी के पाश बनो।
अंधेरे में भटके भूले, उनके लिए प्रकाश बनो ॥

अपने शत्रु विशेषों के भी, कभी न सत्यानाश बनो।
दिल के टुकड़े हुए हजारों, उनका शुभ विश्वास बनो ॥

जीवन वह आदर्श जियो बस, स्वय एक संन्यास बनो।
लिए किसी के नही कभी भी, नश्वर-भोग विलास बनो ॥

हँसने और हँसाने वाला, नित्य नया उल्लास बनो।
लेगे लोग उजास पास आ, अपने लिए उजास बनो ॥

त्रास मिटा न सको गर पर की, परहित मत सत्रास बनो।
सुदृढ़ बनाने आत्म-भाव को, सहज सुदृढ अभ्यास बनो ॥

दोहा

लिखा गया अन्यत्व पर पढ़ो प्रेम के साथ।
इसमें जो कुछ है वही, आप कीजिए हाथ ॥

राग : राधेश्याम

"मुनि गणेश शास्त्री" की इच्छा, जीवन में जागृति आये।
आये भाव हृदय मे उत्तम, वे सारे व्याकृति[1] पाये ॥

दोहा

किया ज्ञानियो के लिए, मात्र यहा संकेत।
लेते लोग वही सदा, जो होता अभिप्रेत ॥

लेने लायक लीजिए, और दीजिए आप।
सामाजिक धार्मिक सरस, नैतिक क्रिया कलाप ॥

विज्ञजनों को प्रेरणा, अज्ञजनों को ज्ञान।
इसीलिए सर्वज्ञ का, प्रवचन सदा महान ॥

पढ़ो पाँचवी भावना, यही हमारे भाव।
भावुक जन पर भाव का, पड़ता प्रेम-प्रभाव ॥

गति पद्धति अपनी अलग, अलग न लेकिन भाव।
साध्य हमारा एक है, शाश्वत आत्म-स्वभाव ॥

एक नही हम एक सब, इसमे नही विरोध।
हम में होना चाहिये, ऐसा उत्तम बोध ॥

☆

---

१ वचन

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥

—उत्तरा० १३।२५

मनुष्य के अकेले तुच्छ शरीर को चिता मे रखकर अग्नि से जला दिया जाता है और उसकी भार्या, पुत्र और बांधव—किसी अन्य दातार का अनुसरण करते हैं।

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—उत्तरा० १८।१४

स्त्री और पुत्र, मित्र और बांधव जीवन काल मे ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरने के बाद वे साथ नही देते।

: ६ :

अशौच-भावना

पौने दो-दो रोग पर, एक-एक है रोम।
ऐसे रोग-निवास पर, क्या न निरर्थक जोम॥
पल में है, पल में नहीं, ऐसा देह स्वरूप।
देखें हम किस दृष्टि से, इसका रूप अनूप॥

6
अशौच भावना

दोहा

देह-स्वरूप

आत्मा मे उठती नही, सुरभिगध दुर्गन्ध ।
दर्शन ज्ञान चारित्र से, चेतन का संबध ॥

आत्मा से जो अन्य है, वे सारे जड़-जात ।
क्षणभगुरता दृश्य की, दिखती है साक्षात् ॥

पडे-पड़े सड़ते यहाँ, पुद्गलमय जो स्कध ।
है जिसका अन्यत्व से, अस्थायी संबध ॥

जितनी जग मे अशुचियाँ, उनमे प्रमुख शरीर ।
रचना निरख शरीर की, बनते धीर-अधीर ॥

रक्त शुक्र संयोग से, यह तन है निष्पन्न ।
चर्मावृत विकृति सदन, है किससे प्रच्छन्न ॥

कहने से क्या अशुचिपन, शुचिपन होता सिद्ध ।
आदि अत स्थिति देह की, अति सर्वत्र प्रसिद्ध ॥

"व्याधिमदिर" देह को, जो माना है सत्य ।
अशुचि-भावना से वही, सम्मुख आया तथ्य ॥

मदिराघट के छिद्र सम, झरते तन के छेद ।
रोम रोम से निकलता, मल मिश्रित प्रस्वेद ॥

शुक्र, रुधिर, मल, मूत्र का, एकमात्र यह स्थान ।
शुद्ध नही बनता कभी, कर लेने पर स्नान ॥

शुद्ध सुगंधित सलिल से, करे स्नान पर स्नान ।
फिर भी नित्य अशुद्ध तन, रे चेतन ! कर ज्ञान ॥
कचवर[1] का अवकर[2] यथा, माना जाता स्थान ।
पलती यहाँ अशुद्धियाँ, काया स्वतः प्रमाण ॥
लहशुन को कर्पूर से, धोये करे उपाय ।
सुरभित बन पाता नही, तन पर लागू न्याय ॥
करो पिशुन जन पर न क्यों, जीवन-भर उपकार ।
वह न पिशुनता छोड़ता, तन का यह व्यवहार ॥
है जितनी इस जगत में, चीजे परम पवित्र ।
वे इस तन-संपर्क से, बन जाती अपवित्र ॥
चाहे चदन का करे, इस काया पर लेप ।
तन तत्क्षण कर डालता, शुचिता में विक्षेप ॥
गंगाजल मिट्टी नही, करते इसे पवित्र ।
काया की अपवित्रता, कितनी बड़ी विचित्र ॥
धोये मुख मे भी नही, लोग डालते हाथ ।
मुख लगने पर वस्तु की, झूठी होती जात ॥
इष्ट मिष्ट स्वादिष्ट जो, भोजन किया विशिष्ट ।
तन-संगति से वह न क्या, मल बनता नि.कृष्ट ॥
केशरमिश्रित दुग्ध का, किया गया जो पान ।
तन-संगति से मूत्र का, ले लेता वह स्थान ॥
डाले लौग इलायची, डाला और कपूर ।
डाली फिर मधुयष्टिका, पान बहार प्रचूर ॥
क्या न भोजनान्तर यहाँ, खाया जाता पान ।
आनन पवन सुगधमय, करने को अम्लान ॥

---

१ कचरा
२ अकूरड़ी

चबा-चबाकर पान-रस, रहे थूकते थूक।
सोने पर भी मुँह में, सोये दबा अचूक॥

जब उठते तब मारता, अपना मुँह दुर्गन्ध।
मल जम जाता जीभ पर, शुचि का क्या सबंध॥

होता मुख न अशुद्ध तो, क्यों करते दतौन।
शुद्ध वस्तु की शुद्धि पर, समय बिताये कौन?॥

छिड़क छिड़क इस देह पर, कृत्रिम इत्र सुगंध।
सूंघ रहा तन शौक से, मान रहा आनन्द॥

हास्यास्पद लगता हमे, तेरा शौचाचार।
तेरे से रुकता नही, अशुचि-प्रदत्त विकार॥

सतत अनावृत, झर रहे, नव बारह तन द्वार।
उसे सजाता तू यहाँ, नये नये श्रृंगार॥

देखा जाये खोलकर, तो खुल जाए पोल।
जगत रिझाने के लिए, चढा रखा है झोल॥

कभी वायु का पित्त का, कफ का कभी प्रकोप।
तन की मन की शिथिलता, करती शुचिता लोप॥

देह न होता तो

अशुचिभावना के लिए, यह षष्ठम अधिकार।
हमको यहाँ शरीर पर, करना पूर्ण विचार॥
देह नही हो तो नही, हो सकता संसार।
देह नही हो तो नही, हो सकता परिवार॥
देह नही हो तो नही, हो सकता व्यापार।
देह नही हो तो नही, भर पाता भडार॥
देह नही हो तो नही, बोला जाता झूठ।
देह नही हो तो नही, करता कोई लूट॥

देह नही हो तो नही, होते ये संग्राम।
देह नही हो तो नही, कभी सताता काम॥

देह नही हो तो नही, कभी सताता क्रोध।
देह नही हो तो नही, लेते जन प्रतिशोध॥

देह नही हो तो नही, होता माया जाल।
देह नही हो तो नही, होती टेढ़ी चाल॥

देह नही हो तो नही, हो सकता अभिमान।
देह नही हो तो नही, हो सकता अपमान॥

देह नही हो तो नही, होता कोई पाप।
देह नही हो तो नही, होते हम या आप॥

देह का दूसरा पक्ष

देह नहीं हो तो नहीं, होता जग में धर्म।
देह नही हो तो नही, होते ये सत्कर्म॥

देह नही हो तो नही, होते व्रत उपवास।
देह नही हो तो नही, होता शास्त्राभ्यास॥

देह नही हो तो नही, होता कोई ज्ञान।
देह नही हो तो नहीं, हम पाते सम्मान॥

देह नहीं हो तो नहीं, हो सकता उपकार।
देह नही हो तो नही, होता सत्य-प्रचार॥

देह नही हो तो नही, दे पाते हम दान।
देह नही हो तो नही, कर पाते कल्यान॥

देह नही हो तो नही, होता यह व्याख्यान।
देह नही हो तो नही, होते हम गुणवान॥

देह नही हो तो नही, होते श्री अरिहंत।
देह नही हो तो नही, होते सूरि महंत॥

देह नही हो तो नहीं, होते गुरु भगवंत।
देह नहीं हो तो नहीं, होते सतियाँ सन्त॥
देह नहीं हो तो नहीं, होता जैन समाज।
देह नहीं हो तो नहीं, क्या लिखते हम आज॥

देह मोक्ष का अंग है

देह-सार व्रतधारणा, देहसार है मुक्ति।
उत्तमता गति जाति की, इसमे क्या अत्युक्ति॥
देह स्वरूप विचार तू, परिहर ममता बुद्धि।
देह-शुद्धि को छोड़कर, कर तू भाव-विशुद्धि॥
आर्त्त रौद्र मूर्च्छा विषय, प्रबल प्रमाद कषाय।
इन्हें हटाने के लिए, कर तू सबल उपाय॥
साध्यदृष्टि परमार्थता, व्रत सयम उपयोग।
सत्य विनय चारित्र का, प्रतिपद करो प्रयोग॥

दोनों उपयोगी हैं

अमृत विष दोनों सदृश, जीवनदायी तत्व।
बतलायें जड़ जगत मे, किसका अधिक महत्व॥
क्या न मधुरता कटुकता, देती दोनों काम।
हमको प्रिय निरपेक्षता, करे किसे बदनाम॥
कोमलता प्रिय एक है, कर्कशता प्रिय एक।
अप्रियता किसकी कहे अभिरुचि का उल्लेख॥
जो अमनोज्ञ पदार्थ है, वे ही क्या न मनोज्ञ।
मिल जाता उनके लिए, भोक्ता योग्य अयोग्य॥
सरस विरस नीरस वही, बन जाता तत्काल।
अभिरुचि व्यक्ति विशेष या, साधन बनता काल॥

हम निभाते हैं

अपनी उत्तम देह में, भरे पड़े है रोग।
हिम्मत से हँसते हुए, सहते है हम लोग॥

अपनी उत्तम देह में, कितने भरे विकार।
यहाँ विकारों के लिए, किसने किया विचार॥

देह बचाने के लिए, करते लाख उपाय।
फिर भी यह बचती नही, बनते हम असहाय॥

देह बचाने के लिए, करते लाख प्रयत्न।
देह रत्न के सामने, रत्न न कोई रत्न॥

जब गिर जाती देह तो, गिर जाता अभिमान।
इस जग में किसका रहा, बोलो नाम निशान।

आप मरे जग प्रलय की, नही कहावत झूठ।
सभी छूट जाये भले, देह न जाए छूट॥
शुचिता ने तन को नही, दिया शरण या त्राण।
इसीलिए तन अशुचि का, करता नव-निर्माण॥

चक्रवर्ती भी

चक्री सनत्कुमार का, सुन्दर रूप अनूप।
बना देखते-देखते, कितना फिर विद्रूप॥

तन की ममता त्यागकर, बने आप निर्ग्रन्थ।
रुग्णावस्था मे सदा, समता रखी अनन्त॥

अशुचि-भावना पर सरस, उदाहरण यह एक।
आत्मविवेक जगा रहा, हटा रहा अविवेक॥

राग : राधेश्याम

रूप की प्रशंसा

बारह चक्रवर्तियों में थे, चौथे चक्री सनत्कुमार।
वर्ण रूप आकृति अत्युत्तम, अत्युत्तम मति कृति अनुसार॥

हुई प्रशंसा देवसभा में, चक्रवर्ति का रूप महान्।
दो देवों ने इस नर-स्तुति को, माना अमरों का अपमान॥

अभी-अभी जाकर परखेंगे, आखिर तो वह नर ही है।
धान्य कीट औदारिक तन यह, रोग सोग का घर ही है॥

विप्र वेष में

दोनों द्विज का रूप बनाकर, पहुँचे चक्रीश्वर के पास।
कंचनवर्णी काया देती, चन्द्रकान्त सम रम्य प्रकाश॥
रूप अलौकिक वर्ण अलौकिक, गंध अलौकिक पाया है।
जैसा सुना इन्द्र से उससे, देखा रूप सवाया है॥

रूप का अहं

मर्दन और विलेपन के क्षण, मात्र पचिया था तन पर।
सिर धुनकर द्विज लगे देखने, भाव सहित स्तुति-वन्दन कर॥
पूछा चक्री ने क्या कारण, आप हिलाते अपना सिर।
बोले विप्र विनययुत वाणी, कारण स्पष्ट किया जाहिर॥
जैसी सुनी प्रशसा हमने, उससे बढकर प्रभु! सुन्दर।
एकत्रित सौन्दर्य हुआ है, स्थान स्थान से हट-हटकर॥
चक्री बोले अभी देखलो, बैठा हूँ मैं खुले वदन।
जब बैठूं सिंहासन पर तब, रूप देखना कांति-सदन॥
अच्छा फिर आएँगे, अब तो, जाएँ करे जरा विश्राम।
जाते समय किया दोनों ने, झुककर रुककर एक प्रणाम॥

वह नहीं रहा

हुआ समय अब राजसभा का, सज कर बैठे सनत्कुमार।
सचिव सभासद सेठ सुभटजन, जुड़ा इन्द्र जैसा दरबार॥
चामर दोनो ओर डोलते, छत्र छत्र पर छत्र विशेष।
जय हो जय मंगल ध्वनियों से, गूंज रहा आकाश प्रदेश॥
आये वे ही विप्र दुबारा, रूप देखकर सिर धुनते।
सिर ऐसे कैसे धुनते हो, बोलो कारण हम सुनते॥
जैसा रूप सुबह देखा था, वैसा रहा नही है रूप।
धूप दुपहरे जैसी प्रातः, सायं की क्या होती धूप॥

विष में परिणति हुई अमृत की, गुप्त शत्रु निकला चिरमित्र ।
जगच्चक्षु[1] से अन्धकार की, रचना होना बात विचित्र ॥
जो कुछ कहना आप चाहते, स्पष्ट करो बोले चक्री ।
ज्योतिर्विद भी बतला देते, दशा और ग्रह जो वक्री ॥
जो था रूप विरूप हो गया, खेद हमें होता भारी ।
तन की इस नश्वरता पर क्या, करें अहं हम संसारी ॥

मक्खी मर जायेगी

पीक थूक कर करो परीक्षण, निष्ठीवन[2] में विष है व्याप्त ।
उस पर बैठी हुई मक्षिका, तत्क्षण होगी स्वतः समाप्त ॥
किया गया वैसा ही तत्क्षण, चक्रवर्ति को भान हुआ ।
विप्रों ने जो कहा उसी का, थूक अचूक प्रमाण हुआ ॥

वैराग्य का उदय

वेष विप्र का छोड़ सुरों ने, छुपे भेद को स्पष्ट किया ।
क्षमा कीजिए हमे दयालो !, अभी-अभी जो कष्ट दिया ॥
तन रचना, तन नश्वरता पर, भाँति-भाँति से किया विचार ।
प्राज्य[3] राज्य यह तजने लायक, तजने लायक है संसार ॥
देह नही जब अपनी अपना, कैसे हो सकता परिवार ।
त्राण नही है, शरण नही है, विभुता प्रभुता का विस्तार ॥
त्याग रूप मद पद चक्री का, स्वीकारा श्रमणत्व महान ।
नही देवताओं को जो सुख, उस सुख का संयम मे स्थान ॥

कर्म की दवा चाहिए

व्याधि हुई उत्पन्न देह में, मुनिजी ने समता धारी ।
नहीं चिकित्सा करवाते है, पूर्णतया ममता भारी ॥

---

१ सूर्य
२ थूक
३ विशाल

वैद्यरूप धर सुर आया फिर, बोला दवा लीजिए आप।
मुनि बोले वह दवा चाहिए, जिससे कट जाते हों पाप ॥
रोग मिटाने की न भावना, रोग भोग है कर्मो का।
समभावों से सहे रोग को, सार समझिए धर्मों का ॥
कर्म टालने की न शक्ति है, रोग टालने की है शक्ति।
औषधि सेवन कर भगवन् यह, मेरी स्वीकारे मुनि-भक्ति ॥

थूक भी दवा है

मुनि ने अपनी अंगुलि से ले, थूक लगाया निज तन पर।
वह तन भाग निरोग हो गया, मानो हँसता कंचन पर ॥
मैं चाहूँ तो मात्र थूक से, रोग रहित कर लूं यह तन।
अट्ठावीस लब्धियों का है, बहुत चमत्कृति-भृत वर्णन ॥
मुझे न तन पर मोह रहा है, कर्म भोग जो भी है शेष।
सहते रहना परम शान्ति से, लक्ष्य बनाया एक विशेष ॥
विरागता का हुआ परीक्षण, गया देवता कर वन्दन।
मुनि ने तोड़ दिए है अपने, कर्मो के दृढतम बन्धन ॥

दोहा

सिंहावलोकन के साथ

पौने दो-दो रोग पर, एक-एक है रोम।
ऐसे रोगनिवास पर, क्या न निरर्थक जोम ॥
पल में है, पल मे नहीं, ऐसा देह स्वरूप।
देखें हम किस दृष्टि से, इसका रूप अनूप ॥
बाह्याभ्यन्तर दृष्टि से, दिखता है प्रत्यक्ष।
सम्मुख आ पाता नही, काया का शुचि-पक्ष ॥
जैसा भी हो तन अगर, रहता सदा अखण्ड।
तो करना भी उचित था, सबके लिए घमण्ड ॥

जैसा भी हो तन अगर, देता हमको साथ।
तो हम भी कुछ सोचते, और नई सी बात॥
जैसा भी हो तन अगर, देता कभी न दुःख।
तो हम भी नित मानते, देह-जनित सुख-सुक्ख॥
दुश्मन से भी अति बुरा, लगता अपना अंग।
दुःख दिखाने के इसे, बहुत याद हैं ढंग॥
ऊब चुके इस देह से, वे करते अपघात।
बूढ़े रोगी सोचते, मर जाने की बात॥
रहा नही दिखता नहीं, अब जीने में सार।
कहने वालों का नहीं, रहा देह पर प्यार॥
अशुचि-भावना पर लिखे, चिन्तनपूर्ण विचार।
लिखने कहने का हमें, मिला हुआ अधिकार॥
"मुनि गणेश शास्त्री" करो, इस पर आप विचार।
शान्तसुधारस पान कर, पाओ नई बहार॥

: ७ :

आश्रव-भावना

राग-द्वेष की भावना, हेतु बन्ध की जान।
पैरों के पड़ते यथा, देखे गये निशान॥

राग-द्वेष विरहित क्रिया, होती है निरबन्ध।
सुर पाँवों का कब हुआ, धरती से सम्बन्ध॥

7

आश्रव-भावना



आश्रव स्वरूप

दोहा

सप्तम आश्रव-भावना, पर हम करे विचार ।
मूल एक ससार का, माना आश्रव-द्वार ॥

मार्ग कर्म आगमन का, माना आश्रव द्वार ।
जीवों के परिणाम का, है यह एक प्रकार ॥

कर्म पुद्गलों का ग्रहण, करता आत्म-प्रदेश ।
द्वार बिना गृह में नही, होता यथा-प्रवेश ॥

कर्म अलग आश्रव अलग, एक न कारण कार्य ।
भिन्न-भिन्न दोनो स्वतः बतलाते आचार्य ॥

कभी न कार्मण-वर्गणा, बन सकते हैं कर्म ।
परिस्पन्दन परिणाम का, स्पष्ट हो गया मर्म ॥

आश्रव के दो भेद

होते आश्रव के प्रमुख, द्रव्य-भाव दो भेद ।
कर्म रूप पुद्गल सभी, हुए द्रव्य से वेध ॥

आत्मा के परिणाम का, है भावाश्रव नाम ।
कर्म ग्रहण होते नही, अगर न हो परिणाम ॥

ईर्यापथ आश्रव त्वरित, लगकर जाता छूट ।
संपराय आश्रव स्थिति, बनती अधिक अटूट ॥

ईर्यापथ में योग का, रहता मात्र निमित्त।
सपराय में योग-युत, मिथ्यात्वादि प्रवृत्त॥

आश्रव के पांच भेद

प्रथमाश्रव मिथ्यात्व है, अविरति और प्रमाद।
तूर्य[1] कषायाश्राव सही, योग अन्त्य[2] अविवाद॥
क्रमशः माना अल्पतर, इनका शक्ति-विपाक।
कब होते सम शक्तिधर, सर के सकल सुराक॥

१ मिथ्यात्व आश्रव

आत्मा को रहता नही, यथार्थता का ज्ञान।
चिन्तन की विपरीतता, है पहला गुणस्थान।
श्रद्धा हो अयथार्थ पर, अधिगमज मिथ्यात्व।
बनता तर्क-कुतर्क से, सारा तत्त्व अतत्व॥
जो सिद्धान्त न सत्य हो, कर उस पर पखपात।
जग को साथ घसीटता, मिथ्यात्वी साक्षात॥
तत्त्व धारणाएँ सभी, बन जाती विपरीत।
प्ररूपणाओं की उलट-पुलट डालता रीत॥
यह तात्त्विक-विपरीतता, पूर्ण प्राथमिक दोष।
रहने देता ही नही, अपने को निज होश॥

२. अव्रत आश्रव

अविरति आश्रव दूसरा, रखता है स्वच्छन्द।
पापाचरणों को नही, होने देता बन्द॥
इन्द्रिय-संयम को नही, कर सकता स्वीकार।
निकट न जाता त्याग के, अव्रत आश्रवद्वार॥
कभी न करते भोगते, जो जीवन में आप।
अव्रत आश्रव से स्वतः, लगता रहता पाप॥

---

१ चौथा २ अन्तिम = पांचवा

पाप स्थानो का नही, किया गया जो त्याग ।
दावानल सम सुलगती, अविरति वाली आग ।।

३. प्रमाद आश्रव

सुनिये आश्रव तीसरा, उत्तम नही प्रमाद ।
आने देता ही नहीं, आत्मधर्म को याद ।।
अनुत्साह आलस्य से, नही सुधरते काम ।
दिया इसी को क्या नही, प्रबल शत्रु का नाम ।।
उसने सब कुछ खो दिया, जिसने किया प्रमाद ।
होता नही प्रमाद मे, कोई कुछ अपवाद ।।
निद्रा, विषय, कषाय, मद, विकथा एक विशेष ।
पाँचो भेद प्रमाद के, देते क्लेश हमेश ।।

४ कषाय आश्रव

करती कलुषित भावना, कहते उसे कषाय ।
अनुदय जहाँ कषाय का, है वह मोक्षोपाय ।।
क्रोध, मान, माया तथा, चौथी लोभ कषाय ।
इन्हे हटाने का करो, निश्चित सरल उपाय ।।
क्रोधोदय से टूटता स्नेह प्रीति सम्बन्ध ।
मिलना-जुलना बोलना, हो जाता है बन्द ।।
विनय-धर्म के मूल का, किया मान ने नाश ।
झुके बिना क्या वृक्ष ने, पाया कभी विकास ।।
होता माया-कपट से, मैत्री का उच्छेद ।
पाता अगले जन्म मे, मायावी स्त्री-वेद ।।
सर्व विनाशक लोभ से, पीडित है संसार ।
लोभी ने अपने सिवा, किस पर किया विचार ।।
एक भेद के भेद फिर, बतलाये है चार ।
सोलह भेद कषाय के, करे अगर विस्तार ।।

५. योग आश्रव

शुभ-अशुभ दो भेद से, हुआ विभाजित योग।
होता योग प्रवृत्तिमय, सभी समझते लोग॥
पुण्य बध शुभयोग से, अशुभयोग से पाप।
व्याख्याकारों ने किया, योगाश्रव को साफ॥
भेद तीन है योग के, मन, वचन, तन जान।
शक्ति प्रबलता से प्रथम, मन को मिलता स्थान॥
शुभ प्रवृत्ति इनकी सभी, समिति-शक्ति से सिद्ध।
दुष्प्रवृत्ति रुकती तुरत, गुप्ति-बाण से विद्ध॥
चार भेद मन के तथा, भेद वचन के चार।
सात भेद तन योग के, पन्द्रह भेद विचार॥

बंध हेतुता

जब तक जीवन शक्ति है, तब तक है ये योग।
योगोदय से इन्द्रियाँ, करती शक्ति-प्रयोग॥
क्या न सुनेगे कान ये, जो कुछ होती बात।
सुनने सुनने मे बहुत, अन्तर है साक्षात्॥
आँखें देखेगी न क्या, दृश्य सकल संसार।
किन्तु देखकर आँख में, उठने दो न विकार॥
क्या बतलायेगा नहीं, घ्राण हमारा गंध।
छिद्र रोकने से नहीं, परिणति होती बन्द॥
जीभ चखेगी रस न क्या, करना जब आहार।
भोक्ता की जो भावना, उस पर दारमदार॥
काम त्वचा का है न क्या, बतला देना स्पर्श।
स्पर्शान्तर की भावना, देती हर्षामर्ष॥
राग-द्वेष की भावना, हेतु बन्ध की जान।
पैरों के पड़ते यथा, देखे गए निशान॥

राग-द्वेष विरहित क्रिया, होती है निरबन्ध ।
सुर पाँवों का कब हुआ, धरती से सम्बन्ध ॥

सप्तम आश्रव द्वार पर, किया अध्ययन एक ।
जगता है अध्ययन से, अन्तर आत्म-विवेक ॥

इन्द्रियों के विषय

स्पर्शेन्द्रिय के लोभ से, फँस जाता गजराज ।
विषय विवशता ने रखी, क्या सामाजिक-लाज ॥

रसनेन्द्रिय के लोभ से, मत्स्य उठाता कष्ट ।
पड़ जाता है जाल मे, करता प्राण-विनष्ट ॥

घ्राणेन्द्रिय के लोभ से, भँवर गँवाता जान ।
उसे नही रहता कभी, रवि छिपने का ध्यान ॥

रूप विमोहित शलभ कुल, पल में देते प्राण ।
नेत्रेन्द्रिय के लोभ से, जीवन है अत्राण ॥

श्रवणेन्द्रिय के लोभ से, मृग पर पड़ता पाश ।
एक-एक अवगुण न क्या, करता सत्यानाश ॥

जो नर पाँचों विषय में, रहते हैं तल्लीन ।
रहता उसके सामने, कष्ट नवीन-नवीन ॥

करिये विषय-निवारणा, होंगे आश्रव बन्द ।
लूटे विषय-निवृत्ति का, बहुत बड़ा आनन्द ॥

चंचल मन ने शान्ति को, किया सर्वथा भग ।
मनोयोग को स्थिर करो, भरो धर्म का रंग ॥

वचनयोग जिसका बुरा, उस सम बुरा न अन्य ।
वाणी-संयम साधिये, जीवन करिये धन्य ॥

अगर नही है आपका, वश मे काया-योग ।
लोग कहेंगे क्या लगा, कोई भारी रोग ॥

पुन्य भी बेड़ी है

आश्रव है शुभयोग भी, सभी जानते सन्त ।
करना है शुभ-अशुभ का, अन्त समय में अन्त ॥
लोहे का हो स्वर्ण का, बन्धन एक समान ।
ऊँची है निरबन्धता, शान्ति मुक्ति का स्थान ॥

नये कर्म बाँधो नही, सुज्ञ विज्ञ है आप ।
रोके आश्रव द्वार सब, रोको क्रिया-कलाप ॥

कुण्डरीक का उदाहरण

कुण्डरीक का क्या हुआ, पढो विचारो तत्त्व ।
आगमगत दृष्टान्त का, अपना एक महत्त्व ॥

पुण्डरीकिणी थी पुरी, क्षेत्र विदेह प्रधान ।
पुण्डरीक नृप कुण्डरिक, दोनों अति गुणवान ॥

वहाँ पधारे एक दिन, ज्ञानी-ध्यानी सन्त ।
बोलो सन्तो के बिना, कौन दिखाये पंथ ॥

मुनि-दर्शन, प्रवचन, श्रवण, जिसको होते प्राप्त ।
जन्म-मरण उसके न क्यो, होंगे कहो समाप्त ॥

कुण्डरीक ने कर लिया, मुनि वचनामृत पान ।
पाया धर्माधर्म का, ऊँचा उंड़ा ज्ञान ॥

अन्तरमन से पा लिया, ज्ञानमूल वैराग ।
भाई को दे राज्य-पद, किया मोह का त्याग ॥

मुनि जीवन और रोग

मुनि जीवन में विचरते, करते उग्र विहार ।
भिक्षा मे जो भी मिला, लेते वो आहार ॥

अरस विरस आहार से, हुए व्याधि से ग्रस्त ।
रोग-ग्रस्तता से हुई, सयम की रुचि अस्त ॥

मुनिजी को लगने लगा, सयम जीवन भार ।
सोचा इस मुनिवेष को, रखदूं कही उतार ॥

जाऊं अपने राज्य मे, पाऊ शान्ति विशेष ।
भाव बताऊँ सहज[1] को, नही बढ़ाऊ क्लेश ।।

क्या राज्य देगा ?

मेरा भाई क्या मुझे, देगा मेरा राज ।
राजग्रहण करते न क्या, आयेगी कुल-लाज ।।

लाज-वाज कुछ भी नही, कुछ भी नही समाज ।
मेरा भाई है वही, मेरा सारा राज ।।

देख लिया अच्छी तरह, सयम मे क्या सार ।
इससे तो अच्छा अधिक, प्यार-भरा संसार ।।

बहुत दिनों से हो रहे, मुनि के ये परिणाम ।
भग्न संयमी पुरुष क्या, कर पाता शुभ काम ।।

भाई के सामने

पुण्डरीकिणी नगर का, अति सुन्दर उद्यान ।
साधु-साध्वियों के लिए, रहने का शुभ स्थान ।।
रजोहरण मुखवस्त्रिका, अब न सुहाते अंग ।
उतर चुका है अंग से, मुनि जीवन का रंग ।।
नही सुहाती साधना, नही सुहाता ध्यान ।
घृणा हुई स्वाध्याय से, बन्द किया व्याख्यान ।।
लोगों का आगमन भी, होता बुरा प्रतीत ।
बुरी बहुत लगने लगी, श्रमण संघ की रीत ।।
वन-पालक ने नृपति से, बता दिया सब हाल ।
कुण्डरीक मुनि की करो, आप शीघ्र संभाल ।।
पुण्डरीक आया त्वरित, वृत्त किया है ज्ञात ।
कुण्डरीक कहने लगा, राज्य सौप दो भ्रात ।।

---

१ भाई

मुझे न संयम चाहिए, मुझे चाहिए भोग।
बहुत समय से देखलो, सता रहे हैं रोग ॥

औषधि का अनुपान का, यहाँ कहाँ संयोग।
खाने-पीने के लिए, परवश है हम लोग ॥

साध्वोचित आचार के, अंकुश अधिक कठोर।
कैसे वे पूरे करू, मैं हूँ अति कमजोर ॥

निभाना उत्तम है

भाई बोला विनय से, सोचो समझो बात।
आत्मघात से भी बुरा, होता सयमाघात ॥

जिन भावों से था लिया, उन भावों के साथ।
पार पुगाये भार को, डाले नही विघात ॥

कोई असर नहीं हुआ

चिकने घट पर कब टिकी, गिरकर भी जल बूंद।
कुण्डरीक ने सुन वचन, ली है आँखें मूंद ॥

किसी तरह से भी नही, दिखा मानता भ्रात।
पुण्डरीक ने राज्य सब, सौप दिया साक्षात ॥

उसी रात में

सहस्राब्द का संयमी, फिर से बना गृहस्थ।
मन ही मन धिक्कारते, सेवक सचिव समस्त ॥

कुण्डरीक ने कर लिया, डटकर सरसाहार।
उसी रात्रि में उदरगत, पीड़ा उठी अपार ॥

दिया सेवकों ने नही, शुश्रूषा पर ध्यान।
आर्त्तध्यान आया अधिक, देख-देख अपमान।

देखूंगा इनको सुबह, होऊगा जब स्वस्थ।
एक भृत्य भी है नही, पूर्णतया विश्वस्त ॥

उग्र वेदना से व्यथित, अर्त्तित चित्त अपार ।
खुला लिया अपने लिए, अन्त्य नरक का द्वार ।।
आश्रव द्वारों ने किया, कुण्डरीक का नाश ।
इससे बढकर अधिक क्या, डाला जाय प्रकाश ।।

राग : राधेश्याम

समाप्ति और सन्देश

मुमुक्षुओं के लिए उचित है, आश्रव द्वारो को कर बन्द ।
प्राप्त करे आत्मिक सुख शाश्वत, निराबाध शिव सहजानन्द ।।
हास्य शोक भय घृणा अरति रति उपरति रखे त्रिवेदों से ।
चाहे जिससे सन्मति पाये, आगम से या वेदों से ।।
बिना अभ्यसिति[1] बिना विरति[2] के होता चित्त निरोध नही ।
चित्त-निरोध नही होने से होता सम्यग्बोध नही ।।
सम्यग् बोध नही होने से कब होते धार्मिक-संस्कार ।
धार्मिक संस्कारों से होता जीवन जगत-समाज-सुधार ।।
भूत भविष्यत् काल नही कुछ वर्तमान ही है आधार ।
उज्ज्वल जीवन करने वाले करो आज ही उच्च-विचार ।।

दोहा

श्रेष्ठ सातवी भावना देती आश्रव ज्ञान ।
'मुनि गणेश' पद्यावली लिखता भाव-प्रधान ।।
लिखा हुआ जाता पढा, सभी जानते लोग ।
जो जाने बूझे सुने, लिखे करे सहयोग ।।
लिखा हुआ जो हो नही, तो क्या ले हम ज्ञान ।
लिखना सत्साहित्य का धार्मिक कार्य महान ।।

---

१ अभ्यास
२ वैराग

'मुनि जिनेन्द्र' से मिल रहा, लिखने में सहयोग।
सहयोगों पर जो रहे, हम सारे ही लोग॥
नम्र निवेदन मैं करूँ आप पढो साहित्य।
लेखक बन जाते न क्या पढने वाले नित्य॥
नित्याभ्यासी ज्ञान का, भर सकते भंडार।
ज्ञानी गुम होते नही, करते जगद् उद्धार॥

: ८ :

संवर-भावना

भावो संवर-भावना, गाओ संवर-गीत।
पाओ प्रीति चरित्र की, ढाओ आश्रव भीत॥
अध.पतन का हेतु है, केवल आस्रव द्वार।
ऊर्ध्वगमन का हेतु है, संवर का संसार॥

8
संवर-भावना

दोहा

संवर का स्वरूप

शुचितम संवर-भावना, रुचि से करें विचार ।
रुकना आश्रव द्वार का, माना संवर द्वार ।।
रोकें नालों को अगर, रखकर ध्यान विशेष ।
पानी का तालाब मे, रुकता स्वतः प्रवेश ।।
घर के दरवाजे अगर, पूर्णतया हों बन्द ।
उसमें आ पाता नही, कोई नर स्वच्छन्द ।।
छिद्र न हो जो नाव में, होता जल न प्रविष्ट ।
पार पहुँचने के लिए, पद्धति यही अभीष्ट ।।
आश्रव रुकने से सही स्थिर होते परिणाम ।
कर्मो के आगमन का, लिखा न जाता नाम ।।

किससे किसको

रोगोन्मूलन के लिए, औषधि परमोपाय ।
आश्रव कुछ करता नही, संवर अगर सहाय ।।
क्षमा धर्म से क्रोध का, रोका जाता द्वार ।
मृदुता से अभिमान पर, पड़ता कठिन प्रहार ।।
ऋजुता के सम्मुख हुआ, माया का मुख बन्द ।
निस्पृहता ने लोभ से, तोड़ दिया सम्बन्ध ।।

संवर के पांच भेद

प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का, संवर वर सम्यक्त्व।
यथार्थ दर्शन के बिना, सारे तत्त्व अतत्त्व॥
अविरति की मृति के लिए, संवरविरति प्रधान।
हुआ नही, होता नही, त्याग बिना कल्यान॥
अप्रमाद संवर बिना, कब उड़ता आलस्य।
अप्रमत्त नर ही यहाँ, होते सुखी अवश्य॥
बहुत कष्टदायी सदा, चारों उग्र कषाय।
लिए शांति के चाहिए, शुचि संवर अकषाय॥
पाकर सवर पांचवां, रुक जाते हैं योग।
सकल शुभाशुभ का यहाँ, होता पूर्ण वियोग॥

सम्यक्त्व संवर

अकों में ज्यों एक का, होता अपना स्थान।
माना है सम्यक्त्व को, सबने यहाँ प्रधान॥
अगर नही सम्यक्त्व है, तो सब कुछ है शून्य।
प्राण-रहित नर से नही, हुआ कभी भी पुण्य॥
राग-द्वेष की ग्रन्थियाँ, पाती पूर्ण विभेद।
होता सम्यग्दृष्टि से, महामोह का छेद॥
सम्यग्दर्शन प्राप्ति से, रुक जाता संसार।
लिए सदा के मोक्ष का, खुल जाता है द्वार॥
सम्यग्दर्शन के किए, जाते पाँच प्रकार।
पुण्यवान के वंश का, होता है विस्तार॥
नैसर्गिक अधिगमज यो, स्पष्टतया दो भेद।
दोनों से मिथ्यात्व का, होता मूलोच्छेद॥

सम्यक्त्व के पांच लक्षण

सम्यग्दर्शन की सही, हो जिससे पहचान।
पाँच लक्षणों का हमे, कर लेना है ज्ञान॥

होता जहाँ कषाय का, क्षय उपशम संप्राप्त ।
आत्मा मे शम-भावना, होती पहले व्याप्त ।।

लक्षण यह सवेग का, अच्छा लगता मोक्ष ।
सम्यग्दर्शन क्या कभी, हम से रहा परोक्ष ।।

दु.खमयी संसार से, हो जाता वैराग्य ।
पाता वह निर्वेद को, जिसका ऊँचा भाग्य ।।

दुखी प्राणियों पर दया, अथवा कोमल भाव ।
अनुकम्पा से धर्म का, बढता सदा प्रभाव ।।

आस्था लक्षण पांचवां, बतलाते भगवान ।
संशयशीलों का नही, हो सकता कल्यान ।।

विरति संवर

जो कुछ अच्छा है नही, उसका कर दो त्याग ।
हमे विरति सवर यही, सुना रहा है राग ।।

होती श्वासोच्छ्वास से, जीवन की पहचान ।
व्रताचरण से ज्ञान की, बढ जाती है शान ।।

जीवित रही बुराइयाँ, तो क्या जीये आप ।
जीवन जीएँ विरतिमय, मर जाएँगे पाप ।।

सर्वविरति के ग्रहण से, बन जाते अणगार ।
यावज्जीवन के लिए, सेव्य नही आगार ।।

देशविरति से बन रहे, द्वादशव्रती गृहस्थ ।
बिना व्रतो के कब हुआ, जीवन धन्य प्रशस्त ।।

अप्रमाद संवर

संयम मे उत्साह का, उत्तम नहीं अभाव ।
नही प्रमादी पुरुष का, पड़ता स्वच्छ प्रभाव ।।

अप्रमाद सवर बिना, मिटता नही प्रमाद ।
बिना तपाए स्वर्ण से, भिन्न न होती खाद ।।

अकषाय संवर

परिणामों की मलिनता, देती दुःख विशेष।
हुआ कषायों से यहां, अन्तर वाह्य क्लेश ॥
लेकर के गृहयुद्ध से, विश्वयुद्ध तक मान।
हुए कषायों से न क्या, उत्तर दे विद्वान ॥
शांति प्रेम का भंग हो, जिसके द्वारा नित्य।
अकषायी नर से नही, हो पाते वे कृत्य ॥

अयोग संवर

करता संवर पाँचवां, योग निरोध विशेष।
गुणस्थान अन्तिम यही स्थिर सब आत्म-प्रदेश ॥
कार्य-कारणों का नही, रहा यहाँ अवशेष।
मिलता है हमको भला, संवर का सन्देश ॥
अन्तिम क्षण संसार का, वन जाते निरबन्ध।
अयोगिता की योग्यता, देती ज्योति अमन्द ॥

राग : राधेश्याम

संवरावस्था के लिए

विषय विकार हटाकर मन में, उठने दो सकल्प नही।
अन्तिम सत्य उसे कहते है, जिसमें अन्य विकल्प नही ॥
कर आराधन ज्ञान धर्म का, साधन सत्य जुटा करके।
हीन दीन मत वन चेतन तू, अपना धर्म लुटा करके ॥
मोह मान का, क्रोध लोभ का, माना जाता त्याग बड़ा।
प्रलोभनो से, परीषहों से, डिग मत रह तू सदा खड़ा ॥
उपशम रस का पान किया कर, मूर्च्छा मोह ममत्व हटा।
ब्रह्मचर्य विधियुत पालन कर, निरख रूप की नव्य छटा ॥
सद्गुरु की सेवा करने का, चूक नही जाना अवसर।
क्षणभर सत्संगति का होता, अन्तरंग पर अधिक असर ॥

जिनेश्वरो की स्तुति नुति कर तू, भजन भक्ति में शक्ति लगा।
शक्ति लगा मत पाप क्रिया में, अपनी सोई शक्ति जगा॥
निर्णय कर ले जो करना है, अस्थिरता का करदे त्याग।
कहाँ भाग कर जायेगा तू, लेना होगा तुझे विराग॥

वज्रस्वामी की विशेषता

कंचन और कामिनी के थे, त्यागी द्रव्य-भाव से सन्त।
वज्र समान वज्र मुनिवर का, जीवन शिक्षाप्रद अत्यन्त॥
किसी सेठ की सुता रुक्मिणी, आई सुनने को प्रवचन।
प्रवचन से ही पूर्ण प्रभावित, होता जन-जन का जीवन॥
मुनि के यौवन रूप गठन पर, हुई विमोहित वह कन्या।
मुनि को पति न बना पाऊँ तो, कहलाऊँ कैसे धन्या॥
मुनि के सिवा किसी नर से भी करवाऊँगी नही विवाह।
करी प्रतिज्ञा ऐसी इसमे, ली न किसी की नेक सलाह॥

पिता छोड़ गया

मातृ-पितृ चरणों के सम्मुख, पुत्री ने निज भाव रखे।
सोचा मेरे सम्मुख कोई, नया नहीं प्रस्ताव रखे॥
बोले माता-पिता सुता से, बता बात यह हो कैसे।
तेरे से क्या व्याह करेगे, सन्त वज्रस्वामी जैसे॥
सन्त ब्रह्मचारी होते हैं, करते स्त्री का स्पर्श नही।
लिए किसी के लिया हुआ वे, तोडेगे आदर्श नही॥
कहा रुक्मिणी ने-औरो से, मै न विवाह कराऊंगी।
भला-बुरा जो नियम ले लिया, उसको सदा निभाऊंगी॥
सेठ बना निरुपाय अन्त में, द्रव्य बहुत सा लेकर साथ।
साथ रुक्मिणी को ले आया, मुनि से कहने सारी बात॥
मुनिजी ! यह लक्ष्मी यह पुत्री, आप करे इनका उपयोग।
इसके लिए स्वय बेटी या, सहमत है हम घर के लोग॥

सेठ गया ऐसे कह करके, कन्या खड़ी पड़ा है धन ।
कंचन और कामिनी का अति, अद्‌भुत होता आकर्षन ॥

नम्र निवेदन

कहने लगी रुक्मिणी सविनय, मुनिजी ! करो मौन का भंग ।
आँखे खोलो बोलो तोलो, जीवन यौवन धन का रंग ॥

योग-साधना का न समय यह, समय भोग का है यौवन ।
भोग-साधना का ससाधन, मिला प्रचुर-मात्रा में धन ॥

रूपवती युवती ने अब तक, किया सन्त का वरण नहीं ।
साहस बिना नये क्षेत्रों मे, रखता कोई चरण नही ॥

आप और मैं सहमत हो तो, अभी विवाह यहीं होगा ।
इसमें बाधक अथवा साधक, कोई अन्य नही होगा ॥

हाव-भाव विभ्रम के द्वारा, कामशरों का किया प्रयोग ।
मानो लड़ने लगा अकेला, वन्द्ययोग से निन्दित-भोग ॥

योग की द्रढ़िमा

योग न बोला योग न डोला, नही योग ने खोला नेत्र ।
योग पा चुका वज्रसंत के, द्वारा ऊँचा अविजित क्षेत्र ॥

पिघला मन,न वचन भी पिघला,पिघला किंचित-मात्र न तन ।
वज्रशिला कब पिघला करती, तपे तपन[१] या जले दहन ॥

रुक्मिणी की दीक्षा

काम न आये कामबाण जब, ज्ञान रुक्मिणी ने पाया ।
दृढ़ता और साधुता ने क्या, आज कही पाई काया ॥

मैं न डिगा पाई मुनिजी को, निष्फल मेरा गया प्रयास ।
नही भोग पर, सत्य योग पर, जगा रुक्मिणी को विश्वास ॥

---

१ सूर्य

सदुपयोग करके लक्ष्मी का लिया रुक्मिणी ने संयम।
भ्रम हटते ही क्रम भी बदला, श्रम भी बदला पाया दम ॥

संवर की छाया

संत वज्रस्वामी ने सच्चा, संवर का रास्ता पाया।
पडी रुक्मिणी के मन पर भी, सवर की शीतल छाया ॥
दोनों के संवर से हमको, सवर का घर पाना है।
आश्रव बुरा श्रेष्ठ है सवर, भाव यही दिखलाना है ॥

दोहा

चिन्तन के चिन्ह

भावो संवर भावना, गाओ सवर गीत।
पाओ प्रीति चरित्र की, ढाओ आश्रव भीत ॥
अध:पतन का हेतु है, केवल आश्रव द्वार।
ऊर्ध्वगमन का हेतु है, संवर का संसार ॥
होता सयम नियम से, सवर का घर पुष्ट।
असयमी नर कब हुआ, किसी तरह सन्तुष्ट ॥

संवर की प्रधानता

सभी क्रियाएँ माँगती, सवर का सहयोग।
थक जाएँगी इन्द्रियाँ, भोग भोग कर भोग ॥
अगर खाद्य संयम न हो, तो फट जाता पेट।
होता अरुचि अजीर्ण से, जीवन मटियामेट ॥
वाणी-संवर के बिना, कब मिलता सत्कार।
हितता मितता सत्यता, सवर का परिवार ॥
मन हो पर परवस्तु पर, कौन डालता हाथ।
कायासवर की यहाँ, आई पहले बात ॥
गतिसवर जो हो नही देती दु:ख थकान।
स्थितिसवर आए बिना, होता नही प्रयाण ॥

: ९ :

निर्जरा-भावना

9

निर्जरा भावना

दोहा

निर्जरा क्या है ?

नवमी निर्जर-भावना निर्मलता का स्थान ।
कर्म-निर्जरा के बिना, कब होते भगवान ।।

अमुक अंश मे कर्म का क्षय होने का नाम ।
दिया गया है निर्जरा एक सकाम अकाम ।।

पूर्ण कर्म-क्षय का दिया, मोक्ष नाम सुखकार ।
करे निर्जरा धर्म पर, प्रस्तुत नये विचार ।।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध

चाहे शुभ हो अशुभ हो, है दोनों ही कर्म ।
आत्मा का बन्धन यही, समझो पहले मर्म ।।

यथा चिपकते धूलि कण, जब चिकनी हो देह ।
कर्म चिपक जाते तथा, देख मोह का स्नेह ।।

कर्म पुद्गलो का नही, आया आता अन्त ।
रहते वे आकाश मे, सदा अनन्तानन्त ।।

होते जब भी जीव के, स्पन्दित आत्म-प्रदेश ।
तदनुकूल पुद्गल वहाँ, बनते कर्म विशेष ।।

इस आत्मा से कब हुआ, कर्मो का सम्बन्ध ।
कोई कह सकता नही, यथा पुष्प सह गध ।।

मिले हुए ही जनमते, यथा स्वर्ण-कण-धूल ।
इनकी आदि निकालना, विद्वानो की भूल ।।

सादि और सान्तता

बन्धन कर्म-विशेष का, सादि और है सान्त।
केवलियों की देशना, निश्चय है निर्भ्रान्त ॥

मिलन दुग्ध-जल का यथा, आत्म-कर्म सम्बन्ध।
प्रथमावस्था कर्म की, वह कहलाता बंध ॥

सत्तावस्था दूसरी, है कर्मो का कोप।
फल विपाक होता नही, नही रोष सन्तोप ॥

उदयावस्था तीसरी, कहते जिसे विपाक।
जैसे बोए बीज से, पक जाती है साख ॥

सविपाकी और अविपाकी

जिन-जिन कर्मों का स्वतः हो जाता स्थिति अंत।
वह सविपाकी निर्जरा, बतलाते भगवंत ॥

क्षण-क्षण होती निर्जरा, क्षण-क्षण बँधते कर्म।
सविपाकी की सहजता, स्पष्ट कर रही मर्म ॥

जो अविपाकी-निर्जरा, करते सम्यग्दृष्टि।
कारण ले तप आदि का, बरसाते सुख वृष्टि ॥

पका लिए जाते यथा, कच्चे कटहल आम।
कर्म पकाने का लिया, अविपाकी ने काम ॥

सहज निर्जरा से नही, हो पाती है शुद्धि।
जुड़ती इसके साथ में, नही निर्जरण बुद्धि ॥

जान-बूझ कर जो किया, गया शुद्धि हित कष्ट।
रहता उसमें सामने, लक्ष्य पूर्णतः स्पष्ट ॥

सकाम और अकाम

कष्ट सहा इच्छा बिना, उसका नाम अकाम।
कष्ट सहा इच्छा सहित, उसका नाम सकाम ॥

अकाम और अनिच्छा

नरक और तिर्यंच के कष्ट असह्य अनेक।
सहने वालों में कहाँ, इच्छा उदित-विवेक॥

देव-क्षेत्र-पर-कृत न क्या, पीड़ा अपरपार।
जीव भोगता आ रहा, नाटकीय संसार॥

तिर्यंचो की वेदना, अनुभव करता कौन।
लिया स्वय उनने न क्या, इसीलिए ही मौन॥

मानव जीवन क्या नही, कष्टों का आगार।
सुख पर हो पाता नही, पूर्णतया अधिकार॥

रोटी कपडो के लिए, कितने सहता कष्ट।
अधिक समय होता न क्या, इनके पीछे नष्ट॥

अर्थोपार्जन में छिपे, कितने कृत्याकृत्य।
होता नही समाप्त भी, यह वैताली-नृत्य॥

भृत्यावस्था मे कहो, क्या कम है अपमान।
विना चित्त देते न क्या, सेठों को सम्मान॥

रोगों को सहते न क्या, अकस्मात आघात।
सिर्फ सुनाने के लिए बच जाती है बात॥

व्यसनी नर खाते न क्या, भरी सड़क पर जूत।
पड़ती कितनी गालियाँ, परवशता के पूत॥

चुभन घुटन से अत तक, छूट न सकता आप।
इच्छा-कृत इच्छा बिना, भरता अपने पाप॥

राग : राधेश्याम

अकाम की उत्तमता

लोकलाज कुललाज आदि से, शीलाचरण स्त्रियाँ करती।
व्यन्तरदेव जाति मे जाती, देखो जब भी वे मरती॥

सूत्र औपपातिक का ऐसा, कहना बिल्कुल झूठ नही।
मानवता की मर्यादाएँ, जाएँ देखो टूट नही ॥
भेद अकामनिर्जरा का यह, आगमकारों ने माना।
अनुभव और ज्ञान गलने[1] से, सत्य सलिल जाता छाना ॥

अकाम और अज्ञान

सुनो अकाम निर्जरा का अब, भेद दूसरा बतलाएँ।
समझाएँ सक्षिप्त भले ही, समझाकर आगे जाएँ ॥
धर्म-देव-गुरु-आत्मा-सयम-तप-जप का समझा न स्वरूप।
प्रज्ञाचक्षु पता कब पाता, यह शीतल छाया यह धूप ॥
धर्म-क्रियाएँ करता है पर, अज्ञानी को ज्ञान नही।
चलता है दिन-रात बैल पर, कहाँ पहुँचना भान नही ॥
यश-पद-पूजा और प्रतिष्ठा, पाने को जो तप करता।
स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा, इसीलिए भूखो मरता ॥
इन अज्ञान तपस्याओ को, कहें अकाम निर्जरा हम।
जैसे भी हो दूर हटाना, फैला हुआ जगत मे भ्रम ॥

सकाम निर्जरा और तप

बारह भेद निर्जरा के है, उनका भी करदे उल्लेख।
सभी बहुत उपयोगी होते, उपयोगी जब होता एक ॥
अनशन में उपवास आदि है, अन्तिम पद मे संथारा।
आत्म-शाति समता स्थिरता हो, वही श्रेष्ठतम तप धारा ॥
ऊनोदरी तपस्या से कम, खाने का होता अभ्यास।
स्वास्थ्य शुद्धि का उत्तम साधन, तप पर करे अधिक विश्वास ॥
उत्तम भोजन के प्रति इच्छा, जाए तो रोका जाए।
वृत्तिह्रास[2] तप की महिमा को, बुद्धिमान नर अपनाए ॥

---

१ पानी छानने का वस्त्र
२ भिक्षाचरी

रस-परिहार तपस्या से हम, सात्त्विक भोजी क्यो न बने ।
क्षुधातृप्त करने वाले को, भले मिले हों भुने चने ।।
कायक्लेश तप के द्वारा इस, तन को पूर्ण कसा जाए ।
सहिष्णुता मे बने सहायक, पद्धति वह उन्नति पाए ।।
सम्पूर्वक जो सधे लीनता, आसनजय कर पायेंगे ।
योगाभ्यासी विश्वासी बन, तपी जपी कहलायेंगे ।।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त किए पापो का, कर लेना तप आभ्यन्तर ।
पुन न हो अपराध वही यह, चिन्तन का सुन लेना स्वर ।।
विनय तपस्या के द्वारा हम, अनुशासित रह पाते है ।
गुरुजन गुणिजन के दर्शन पर, हम सविनय झुक जाते है ।।
वैयावृत्य तपस्या से हम सेवाभावी बन पाते ।
जिनके मन मे भेद नही हो, वे जनसेवक कहलाते ।।
तप चतुर्थ स्वाध्याय बनाता, जडमति को विद्वान बडा ।
विद्वानों के ज्ञान स्थान पर, दुनिया को अभिमान बड़ा ।।
ध्यान तपस्या से हम अपने, मन को कर पाते स्थिर शान्त ।
इधर-उधर जो भटक गया वह, अस्थिर-नर होता दिग्भ्रान्त ।।
विधिपूर्वक उत्सर्ग तपस्या, कर देती नर को आत्मस्थ ।
यौगिक चंचलता से होती, प्रवृत्तियाँ शुभ-अशुभ समस्त ।।

तप महिमा

कर्म निर्जरा का साधन तप, उसके बारह भेद प्रसिद्ध ।
एक रूप है वन्हि, किन्तु वह, काष्ट उपल[1] जल वाली सिद्ध ।।
कर्म निकचित दुर्धर पर्वत, तप है वज्र समान कठोर ।
दिया गया है इसीलिए ही, ऋषियो द्वारा तप पर जोर ।।

---

१ पत्थर

दीप्तकृशानु[1] प्रगट कर देता, सोने का जो शुद्ध स्वरूप ।
बिना तपस्या कब हटता है, चढा आत्म पर मैल विरूप ॥

विश्ववन्द्य तप के द्वारा ही, सकल सिद्धियाँ होती प्राप्त ।
निधियाँ तथा लब्धियाँ रहती, कठिन तपस्याओ में व्याप्त ॥

पाप शमनहित आत्मरमनहित, विषय दमनहित तप करना ।
लोकैषणा अगर मन मे हो, तो न आप भूखों मरना ॥

पा प्रतिकूल पवन ज्यों बादल, हट जाते कर्मो के दल ।
औषधि-सेवन से गद[2] कटते-कटते तप से कर्म प्रबल ॥

दृढप्रहारी तस्कर का हम, उदाहरण पढ़ते जाएं ।
तप के ऊँचे सोपानो पर, भाव सहित चढते जाएँ ॥

जीवन का प्रारम्भ

विप्रपुत्र व्यसनी होने से, विद्याध्ययन न कर पाया ।
घर से दिया निकाल पिता ने, मिली नही ममता माया ॥

मिला तस्करों की टोली में, क्रूर क्रूरतम बने विचार ।
लूट-फाट मे बड़ा निर्दयी, करता दृढ़तम कठिन प्रहार ॥

पल्लीपति ने इसे पुत्रवत्, पाला पोसा प्यार दिया ।
पराक्रमी होने से इसको, टोली का सरदार किया ॥

नगर लूँटता गांव लूटता, और लूँटता धन प्रिय प्राण ।
सभी साथियो को लेकर के जब भी करता महाप्रयाण ॥

एक घटना

एक बार इसने लूटा था, नगर एक कोई भारी ।
भारी होना माना जाता, क्या न आजकल बीमारी ॥

किसी एक ब्राह्मण के घर पर, जाकर के बैठा था आप ।
मानो आज यहाँ होना है, इसके हाथो मोटा पाप ॥

---

१ अग्नि
२ रोग

खीर पकाई गई वहाँ पर, बडे प्रेम से खाने को।
कौन समझता बच्चों के दिल अथवा नए जमाने को ॥
बच्चे सभी क्षीर-भाजन के, प्रमुदितमन बैठे चोफेर।
पूछ रहे थे मां से है अब, परोसने में कितनी देर ॥

छुआछूत

दृढ़प्रहारी उस भाजन को, छूने लगा पास में आ।
उठी ब्राह्मणी बोली मुख से, यह क्या करते हो हा ! हा !! ॥
छूओ मत क्षैरेयी[1] को, यह काम नहीं फिर आयेगी।
मेरी बाल मडली प्यारी छूई हुई न खायेगी ॥
मूर्खों के सरदार ! नही है, इतना सा भी ज्ञान अभी।
विप्र और चाडाल लोग क्या, होते एक समान सभी ॥

हत्या पर हत्या

तस्कर ने क्रोधित हो तत्क्षण, स्त्री को दिया वही पर मार।
उसे बचाने को द्विज दौड़ा करता करुणा-जनक पुकार ॥
उसको भी मारा तस्कर ने, इतने मे गौ आई भाग।
अपने मालिक पर होता है, पशुओ का भी अति अनुराग ॥
गौ पर किया प्रहार शस्त्र का, पड़ी गाय भी प्रांगण मे।
बछडा गिरा पेट मे जो था, जीवन देने को क्षण मे ॥
स्त्री-द्विज-गौ-गौवत्स पड़े है, चारों ही ये मरे हुए।
बच्चे मरे हुए से लगते, चोर मौत से डरे हुए ॥

दृश्य नहीं, हृदय बदला

पड़ा रक्त ही रक्त सामने, तस्कर का मन काँप उठा।
किए हुए अपराधो का फल, क्या होगा मन भाँप उठा ॥
द्विज गौ-घाती महापातकी, रौरव मे पछताता है।
कैसे इससे छूटा जाए, नही समझ मे आता है ॥

---

१ खीर

प्रायश्चित्त करूँ इसका क्या, सोच रहा है मन ही मन ।
अपने आप श्रामणी-दीक्षा, लेकर करलू पाप-शमन ॥
पचमुष्टि लु चन कर सत्वर साधुधर्म स्वीकार किया ।
परीषह सहने का सुन्दर, समता-सहित विचार किया ॥

समता की पराकाष्ठा

नगर द्वार के पास खड़े आ, कायोत्सर्ग तपस्या धर ।
लोग सताने लगे जानकर जाते-आते इधर-उधर ॥
है यह तस्कर जिसने अपने, प्रियजन को लूटा-खोंसा ।
इसने धान न चुराया होता, तो क्यो मरते बाबोसा ॥
बच्चे भूखे सोये रोए, इसने फाड़ा था जब घर ।
बना सत, मूदी है आँखे, अन्दर में तो है तस्कर ॥
मारो पत्थर, फेको ईंटे, मुष्टि-यष्टि का करो प्रहार ।
बदला लेने से हो जाता, अपने मन का हलका भार ॥
थक जाते जन मार मारते, अपने आप चले जाते ।
ऐसा कोई नही आदमी, जिसके भले पले नाते ॥
समता सहित रहित ममता से, सहते तन पीडा आक्रोश ।
दृढप्रहारी मुनिजी का था, वर्ण अगोचर[1] अन्तस्तोष ॥
नही घडी पल, नही प्रहर दिन, नही रात सप्ताह नही ।
'सार्ध मास[2]' पूरे बीते पर, मुनि ने की परवाह नही ॥
थके लोग स्वयमेव सताते उग्र परीषह रहा नही ।
गए दूसरे दरवाजे पर, भेद किसी से कहा नही ॥

वही मार

प्रथम द्वार की भाँति यहाँ पर, वही मार आक्रोश वही ।
पहले वाले लोग नही थे, मुनि मन का सन्तोष वही ॥

---

१ अवर्णनीय
२ डेढ महीना

साम्य शंस्य[1] था काम्य नहीं कुछ, परीषहों को सहन किया ।
अपने किए हुए कर्मो पर, चालू चिन्तन गहन किया ॥
द्वार तीसरे पर जाकर फिर, सार्ध मास तक कष्ट सहे ।
लोग इधर के उन लोगो से, किसी तरह कम नहीं रहे ॥
चौथे दरवाजे पर जाकर, सार्ध मास फिर ध्यान किया ।
दुख सहने की सम रहने की, वही प्रक्रिया वही क्रिया ॥

कैवल्य पा लिया

बीत गये छह मास सहज ही, नाश कर्म का हुआ सकल ।
ज्योति अनन्त जगाने वाला, प्रगट हुआ केवल अविकल ॥
कर्म खपाकर मोक्ष प्राप्त कर, सिद्ध बुद्ध भगवान बने ।
कायोत्सर्ग ध्यान समता से, स्थायी ज्योतिर्मान बने ॥

आवश्यकता पर बल

कर्म रोग, तप औषधि, ज्ञानी, वैद्य, जिनेश्वर मत अनुपान ।
ज्ञान प्राप्त करलो आत्मा का, हरलो अघ-सर्जक अज्ञान ॥
कर्म निर्जरा विना किए ही, नहीं किसी को मिलती सिद्धि ।
आवरणो से दबी पड़ी है, केवल श्रुत की अनुपम रिद्धि ॥
कर्दम तुल्य कर्म पुद्गल है, आत्मा उत्तम पद्म-कमल ।
आवरणों को दूर हटाओ, प्रगटाओ निर्मल केवल ॥
चिन्तन मनन स्पष्ट करने का, कष्ट करो सारे सज्जन ।
ज्ञान सलिल के बिना न होता, अपनी आत्मा का मज्जन ॥
'मुनि गणेश शास्त्री' का कहना, मानो जानो तत्त्व कथा ।
बोध विधायक सुखदायक है, शास्त्र-श्रवण की सत्य प्रथा ॥

---

१ प्रशसनीय

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥
एवं तु सजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसचिय कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

—उत्तराध्ययन ३०।५-६

जिस तरह जल आने के मार्गों को रोक देने पर वड़ा तालाव पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमश. सूख जाता है उसी तरह आस्रव (पाप-कर्म के प्रवेश मार्गों) को रोक देने वाले सयमी पुरुष के करोड़ो भवो—जन्मो—के सचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड जाते हैं।

सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा ।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥

—उत्तराध्ययन ३०।७

यह तप वाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा गया है। वाह्य तप छ. प्रकार का कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी उतने ही प्रकार का ।

: १० :

धर्म-भावना

धर्म बिना धर्मी नहीं, धर्मी बिना न धर्म ।
दोनों जीते साथ में, यही प्रेम का मर्म ॥
धर्म-धर्म सब एक है, नहीं धर्म में भेद ।
क्या देखा आकाश में, कहीं आपने छेद ॥

10

धर्म-भावना

दोहा

स्वरूप और परिभाषाएँ

धर्म अहिंसा सत्य तप, मंगल है उत्कृष्ट।
इसे समझना हो गया, आज बहुत ही क्लिष्ट ॥

धर्म-भावना को मिला, दशवाँ स्थान विशेष।
धर्म बिना जीवन-जगत, अशिवकर नि:शेष ॥

धर्म जीव परिणाम है, धर्म शुद्ध आचार।
दान-शील-तप-भावना, इसके चार प्रकार ॥

धर्म विश्वव्यापी विपुल, माना वस्तु स्वभाव।
नही किसी भी धर्म का, पर के साथ लगाव ॥

प्रथम धर्म श्रुत-सम्पदा, अन्य धर्म चारित्र।
दोनों रगों से बना, मानवता का चित्र ॥

बतलाए प्रभु ने प्रमुख, धर्म द्वार ये चार।
क्षमा तथा निर्लोभता, ऋजुता मृदुता सार ॥

श्रमणधर्म दशविध सुखद, अथवा विविध प्रकार।
एक बीज का फैलता, क्या न बहुत विस्तार ॥

कही न खेती धर्म की, और न कही दुकान।
होता धर्म शरीर से, यूं कहते भगवान ॥

धर्म-साधना के लिए, धारण करो शरीर।
मोक्ष नही इसके बिना, बतलाते प्रभुवीर ॥

साधन आत्म-विशुद्धि का, माना जाता धर्म ।
परिभाषाएँ धर्म की, प्रगट खोलती मर्म ॥

जो भी मोक्ष उपाय है, उससे मिलती मुक्ति ।
धर्म समझने के लिए, है यह उत्तम उक्ति ॥

दशधर्मो पर हम करे, मतिपूर्वक दृग्पात ।
गुप्त कभी होती नही, धर्म-क्रिया की बात ॥

सत्य ही भगवान

"सच्चं खु भयव" अतः, प्रथम धर्म है सत्य ।
जो कुछ है वह सत्य है, कुछ भी नही असत्य ॥

चिन्तन वर्त्तन वचन यों, भेद सत्य के तीन ।
तीनों की व्याख्या करे, समझें सुज्ञ प्रवीन ॥

अपना औरों का तथा, जैसे हो कल्यान ।
चिन्तन जो ऐसा किया, है वह सत्य प्रधान ॥

सत्य नही जो कह दिया, किसी चोर को चोर ।
लिए धर्म के है न क्या, वर्जित वचन-कठोर ॥

अंधे को अंधा कहा, सत्य नहीं वह बोल ।
जिससे आत्मा हो दुखी, उसका कैसा मोल ॥

वस्तुस्थिति जो हो वही, किया जाय व्यवहार ।
सत्य धर्म के सोच लो, सुन्दर तीन प्रकार ॥

क्षमा

क्षमा कीजिए, कीजिए, नही किसी पर क्रोध ।
नही किसी से लीजिए, आप वैर-प्रतिशोध ॥

दुश्मन का भी हो भला, ऐसा करो विचार ।
क्षमा धर्म का कीजिए, सुखकर साक्षात्कार ॥

मृदुता

धर्म तीसरा है विनय, मृदु हों मन के भाव ।
अहंकार किस बात का, हो यह सहज-स्वभाव ॥

ज्ञानी से ज्ञानी यहाँ, और बड़े गुणवान ।
विनयवान करता नहीं, गुण पर भी अभिमान ।।

झुकना करना गुण ग्रहण, विनयी जन का काम ।
छोटों को भी क्या नही, लिखते लोग सलाम ।।

शौच

द्रव्य-भाव की शुद्धता, शौच धर्म सुखकार ।
कौन नही करता कहो, पवित्रता से प्यार ।।

क्षेत्र-काल-तन-शुद्धि के, बिना शास्त्र स्वाध्याय ।
बाह्य शुद्धि का कीजिए, उत्तम प्रथम उपाय ।।

शुद्धि विचारों की करो, उच्चारण की शुद्धि ।
आचारों की शुद्धि से, निर्मल बनती बुद्धि ।।

संग त्याग

विषयों की निर्लिप्तता, सग त्याग का अर्थ ।
अनासक्ति रखता यहाँ, कोई व्यक्ति समर्थ ।।

वस्तु-त्याग करना सरल, कठिन त्यागना संग ।
संग त्याग जो सीखना, किया करो सत्सग ।।

सत्संगति के रंगसे, छूटेगे दु.सग ।
बहुत देर से उतरता, दु:संगों का रग ।।

आर्जव

छठा धर्म आर्जव कहा, करो कपट का त्याग ।
बिल के सम्मुख वक्रता, क्या न त्यागता नाग ।।

मन मे कुछ; कुछ वचन मे, वर्तन मे कुछ अन्य ।
चतुराई कैसे कहें जो हो मायाजन्य ।।

यह न पढो, खोलो न यह, है इस पर प्रतिबन्ध ।
पुस्तक ने छोड़ा नही, ऋजुता से सम्बन्ध ।।

ठगा किसी को आपने, ठगे गये हैं आप ।
ठगने वाले को लगा, कपटजन्य कटु पाप ॥

वचन सरल,तन मन सरल, सरल सकल व्यवहार ।
सरलात्मा को दीखता, सरल सरल ससार ॥

ब्रह्मचर्य

धर्म सातवाँ शीलव्रत, मैथुन का परित्याग ।
कामराग को जीतना, क्या न पालना नाग ॥

मन मे तन मे वचन मे, नही कही पर काम ।
काम-विजय जिसने किया, है उसको विश्राम ॥

वेदोदय की वेदना, परम वेदना जान ।
व्यक्ति जानता, जानते या जो हैं भगवान ॥

लेखन-वांचन-कृति-कथन-श्रवन अगर अश्लील ।
उन्हे पता होता नही, क्या होता है शील ॥

उदासीनता क्षीणता, कभी न आती पास ।
ब्रह्मचर्य व्रत का जहाँ, होता सुखद-निवास ॥

यहाँ सजाति विजाति का, उठता नही सवाल ।
नववाडों से कीजिए, इस व्रत की सभाल ॥

समय अवस्था से नही, सम्बन्धित है काम ।
सपने में बनता न क्या, चालू चित्त हराम ॥

वन में हों या भवन में, मन मे बसता काम ।
विषय-वासना ने नही, लगने दिया विराम ॥

विमुक्ति

अष्टम धर्म विमुक्ति से, मिट जाता ममकार ।
होता मूर्च्छा भाव का, बहुत बड़ा परिवार ॥

द्रव्य विना मूर्च्छा नही, मूर्च्छा बिना न मोह ।
मोह विना पलता नही, दुख का दुष्ट गिरोह ॥

कर जाये इस देह पर, कोई चन्दन लेप।
पड़ता नही विमुक्ति में, कोई भी विक्षेप॥
कर जाए इस देह पर, कोई कुलिश[1] प्रहार।
पीड़ा का अनुभव न हो, यही धर्म का सार॥

संयम

जो माने मन इन्द्रियाँ, आत्मा का निर्देश।
नौवे संयम धर्म पर, चिन्तन करो विशेष॥
चित्त कही पर घूमता, कैसे हो वह ध्यान।
होता सयम के बिना, कभी नही कल्यान॥
वेष बदलने से नही, हो सकता कल्यान।
चित्त बदलना चाहिए कहते श्री भगवान॥
चित्त-इन्द्रियो को करो, समझा करके शांत।
राजयोग हठयोग का, अलग-अलग सिद्धान्त॥

अकिंचनता

धर्म अकिंचन का सुनो, अपना एक महत्त्व।
मन के कोने में न हो, किंचितमात्र ममत्व॥
उपधि बहुत, ममता बहुत, करलो पहला भग।
उपधि बहुत, ममता वहाँ, अल्प दूसरा अग॥
उपधि अल्प, ममता बहुत, भग तृतीय विशेष।
दोनों की अत्यल्पता, चौथा भगादेश॥
उपधित्याग का है नही, आग्रह यहाँ विशेष।
करना त्याग ममत्व का, सुनो सत्य सन्देश॥

धर्म का प्रभाव

समय-समय पर उदय हो, देता सूर्य प्रकाश।
बिना धर्म होता नही, अन्धकार का नाश॥

---

१ वज्र

तप्त तवे-सी भूमि को, शांत बनाता मेघ ।
सहा न जाता धर्म से, उष्णजन्य उद्वेग ।।

उड़ा न ले जाते कही, जनता को तूफान ।
हृदय धर्म का देखिये, कितना दया-प्रधान ।।

नही डुबोता देख लो, वसुन्धरा को सिन्धु ।
जब तक जीवित धर्म का, नही सूखता विन्दु ।।

नही जलाता जगत को, दावानल का दाह ।
सभी मानते धर्म की, ऊँची उचित सलाह ।।

हमला भी करते नही, सिंह व्याघ्र या रीछ ।
रखता अपनी ओर ही, धर्म सभी को खींच ।।

देते लेते लोग नित, प्रेम और सहयोग ।
देखो होते धर्म के, कितने नये प्रयोग ।।

किसने दिया ?

औरों के दुख से दुखी, सुख से सुखी महान ।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ।।

विनय बड़ों का कीजिए, छोटों का सम्मान ।
बिना धर्म किसने दिया, हम सब को यह ज्ञान ।।

घर पर आये अतिथि को, जो देते हम दान ।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ।।

एक मात्र अरिहन्त को, माने हम भगवान ।
विना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ।।

एक मात्र निर्ग्रन्थ को, माने गुरु गुणवान ।
विना धर्म किसने दिया, हम सब को यह ज्ञान ।।

जिन प्रवचन को मानते, सत्य पूर्ण सुख स्थान ।
विना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ।।

मानव मानव-जाति से, सारे एक समान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
मरने से डरना नही, मरना निश्चित मान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
परदारा परधन गिनो, मां सम धूल समान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
ज्ञान प्राप्त करते रहो, चाहे हों विद्वान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
यौवन धन ऐश्वर्य का, करो नही अभिमान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
जिससे शिक्षा लो उसे, देना ऊँचा स्थान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
दो सेवायें, जो मिले, रुग्ण, वृद्ध या ग्लान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
कभी न करणी बेचना, करना नही निदान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
जैसे प्रिय हमको, सभी-जीवों को प्रिय प्राण।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
करो नही संग्रह अधिक, संग्रह से नुक्सान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
आत्मा-प्रभु-परलोक पर, बनना आस्थावान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
रखा क्रियाओ मे न कुछ, कहो सुनो न जबान।
बिना धर्म किसने दिया, हम सबको यह ज्ञान ॥
झूठ बोलना है नही, चाहे जाये प्राण।
बिना धर्म किसने दिना, हम सबको यह ज्ञान ॥

धर्म के फल

मिली मनोहर देह जो, नही देह में खोड़ ।
कर सकता है धर्म से, कौन दूसरा होड़ ॥

मृगनैनी गजगामिनी, मिली कामिनी श्रेष्ठ ।
माना जायेगा न क्या, एक धर्म फल ज्येष्ठ ॥

प्राप्त हुआ आनन्द अति, देख नन्द के नन्द ।
धर्मचन्द्र की कब हुई, कला एक भी मन्द ॥

वहुत वडे परिवार की, खडित हुई न कोर ।
चला धर्म के सामने, नही मृत्यु का जोर ॥

रहता संकट के समय, जो अपना मति स्थैर्य ।
माना जाए धर्म का अत्युत्तम ऐश्वर्य ॥

कथनी करनी में लिया, सज्जनता ने वास ।
देना होगा धर्म को, इसी हेतु शावास ॥

वने गुणी गुणवान की, जो पाई पहचान ।
देखो है यह धर्म का, अपने पर अहसान ॥

जीवन मे जाने नही, क्या होते हैं रोग ।
कैसे भूले धर्म को, ऐसे ऊँचे लोग ॥

रम्य रूप लावण्य पर, पाकर सात्त्विक गर्व ।
धर्म कल्पतरु के न क्या, गुण गायेगे सर्व ॥

चौदह विद्याएँ पढ़े, वढे चढ़े आकाश ।
अन्य न कोई था पर, धर्म सदा था पास ॥

कविताएँ लिखकर लिया, पुरस्कार सत्कार ।
कव का सींचा कव फला, धर्म प्रेम-सहकार ॥

मिला कला-चातुर्य जो, मिला वचन माधुर्य ।
पहचानोगे धर्म की-करुणा का प्राचुर्य ॥

धर्म एव माता-पिता धर्म सखा सन्मित्र ।
धर्म तीर्थ की स्थापना, कितनी बड़ी पवित्र ॥
यहाँ वहाँ पर धर्म है, इधर-उधर है धर्म ।
ऊँचे-नीचे धर्म है, धर्म धर्म का मर्म ॥
इस कलियुग के अन्त तक, धर्म रहेगा आप ।
होगा उसके बाद में, सिर्फ पाप ही पाप ॥
धर्मजय की उक्ति पर, क्यों न करे विश्वास ।
पापेक्षय की उक्ति भी, देती पूर्ण प्रकाश ॥
सत धर्मरुचि ने किया, नही धर्म का त्याग ।
जीवनान्त तक सुमन क्या, तजता कभी पराग ॥

राग · राधेश्याम

धर्मरुचि की कथा

चपानगरी मे सुखपूर्वक, रहते थे द्विज भ्राता तीन ।
सोम, सोम से दत्त, सोम से भूति सहित अभिधा प्राचीन ॥
बहुत धनाढ्य सुखी गुणधारी, वेदों के विद्वान बड़े ।
विद्वत्ता से गुणवत्ता से, मिलते हैं सम्मान बडे ॥
स्त्रियाँ नागश्री और भूतश्री, और यक्षश्री नामों से ।
रूप और लावण्यवती अति, सुकृत के परिणामों से ॥

एक विचार

तीनों भाई मिले एकदा, ऐसा करने लगे विचार ।
सात पीढियाँ सुख से खाए, है इतने धन के भडार ॥
खाए, बाटें, दे, भोगें, पर-खूट नही सकता है धन ।
एक-दूसरे के घर पर हम, बारी-बारी करें अशन ॥
अशनपान-खादिम-स्वादिम का, प्रचुरतया उपयोग करे ।
लोग कहे कुछ सुनें किन्तु हम, अपना नया प्रयोग करे ॥

स्वीकृत किया सभी ने जैसा, सोचा था सबने मिलकर।
वातावरण सुगंधित करता, सुमन सम्पूर्णतया खिलकर ॥

नागश्री की बारी

बारी आई नागसिरी की, किया श्रेष्ठ भोजन तैयार।
साग मसालेदार तेल का, दिया तेज से तेज बघार ॥

एक बिन्दु ले चखा लगा है, तूँबा कटुक हलाहल सम।
खाने वाले क्या खाएँगे, आयेगी हा ! मुझे शरम ॥

पता लगेगा घर वालो को, उपालंभ देगे भारी।
ऐसा शाक बनाने वाली, कैसी यह फूहड़ नारी ॥

माल गँवाती समय गँवाती, घर का करती सत्यानाश।
देवरानियाँ क्यों न करेगी, मिल करके मीठा उपहास ॥

इसे छिपा दूं और दूसरा, शाक बना दूँ अभी नया।
कमी नही कोई मेरे घर, प्रभुजी की है पूर्ण दया ॥

किया शाक तैंयार दूसरा, भोजन को आये भाई।
भोजन करने वालो का मन, आत्मा शांति परम पाई ॥

स्नाता विभूषिता तीनों ही, तृप्त बनी करके भोजन।
गईं सभी वे कहती-कहती, उत्तम था अशनायोजन ॥

पारणे के लिए

आये हुए उसी नगरी में, धर्म-घोष नामक अणगार।
शिष्य-प्रशिष्यों का था जिनका, अपना बहुत बड़ा परिवार ॥

शिष्य धर्मरुचि उग्रतपस्वी, मासखमण तप के धारी।
गए पारणा लेने को वे, ले गुरु आज्ञा सुखकारी ॥

गये नागश्री के घर पर मुनि, उसने पाया हर्ष महान।
छिपा रखा जो शाक उसी पर, गया ब्राह्मणी का अब ध्यान ॥

दुष्ट दान

कहाँ गिराने जाऊँगी यह, शाक बना जो जहरीला।
मुनिजी एक उकरडी ही है, इनकी हो पूरी लीला ॥

सारा शाक मसाले वाला, उठा पात्र में डाल दिया।
मिला पूर्ण आहार आज तो, मुनि ने उच्च खयाल किया ॥
लेकर आये, गुरु के सम्मुख, रखा चखा गुरु ने तत्काल।
बोले, किसने दिया शाक यह, शाक नही है समझो काल ॥
इसे अगर खाओगे तो तुम, असमय कर जाओगे काल।
जाओ इसे परठ आओ फिर, करो गौचरी की संभाल ॥

पेट में परठ दिया

गये परठने ले गुरु आज्ञा, किया प्रमार्जन स्थंडिल का।
वही निकटतम स्थान बना था, पिपीलिकाओं के बिल का ॥
एक बूंद डाली तो आई, पिपीलिकाएँ कई हजार।
सूंघा चखा बूंद को छूआ, पहुँची वे यमपुर के द्वार ॥
मुनि ने देखा एक बूंद से, मरी चीटियाँ जब इतनी।
सारा शाक परठने से तो, हाय! मरेगी ये कितनी ॥
इससे तो यह अच्छा होगा, मैं ही खालूं सारा शाक।
क्योंकि अंत मे होनी ही है, औदारिक काया की खाक ॥
दया धर्म के लिए जिएँ हम, दया धर्म के लिए मरे।
अरिहतों का दर्शन कहता, हम मरने से नही डरे ॥
किया प्रमार्जन अपने तन का, लिया विषैला शाकाहार।
उग्रवेदना उठी देह मे, शिथिल हो गया पुरुषाकार ॥
अंतसमय सन्निकट जानकर, सविधि ले लिया सथारा।
अपने जीवन से भी ज्यादा, दयाधर्म मुनि को प्यारा ॥
आलोचन प्रत्यालोचन कर, किया देह का त्याग वही।
मुनि जीवन मे पाला जाता, अपने तन पर राग नही ॥
गये सत सर्वार्थसिद्ध मे, ज्ञाता मे पढ़लो विस्तार।
हंसबुद्धि के बिना किसी से, लिया नहीं जा सकता सार ॥

दोहा

पूर्ति और पर्यवेक्षण

धर्म भावना पर लिखा, पढा करो साहित्य।
जिसके द्वारा पनपती, धर्म भावना नित्य ॥
जो रखता है धर्म को, उसको रखता धर्म।
रखने वाले से रखो, यथा प्रेम का मर्म ॥
जिसने सकटकाल में, रखा धर्म संभाल।
होने न दिया धर्म ने, उसका बांकाबाल ॥
है कलियुग में धर्म कम, फिर भी धर्म समर्थ।
एक वाक्य के निकलते, क्या न अनेको अर्थ ॥
उत्तम दशवी भावना, उत्तम इसका सार।
उत्तमता प्यारी जिसे, उसे धर्म से प्यार ॥
धर्म बिना धर्मी नही, धर्मी बिना न धर्म।
दोनों जीते साथ में, यही प्रेम का मर्म ॥
धर्म धर्म सब एक है, नही धर्म मे भेद।
क्या देखा आकाश में, कहीं आपने छेद ॥
"मुनि गणेश" करते रहो, धर्म-प्रचार हमेश।
प्रचारकों का हो रहा, आदर-मान विशेष ॥

☆

: ११ :

लोक-भावना

षड्द्रव्यात्मक लोक है, अन्य नहीं कुछ लोक।
परिभाषाएँ दे रहीं, हमें स्पष्ट आलोक॥
हुई अस्ति की नास्ति कब, असत् नहीं सद्रूप।
लोक न बना अलोक से, स्थिर है लोकस्वरूप॥

11

लोक-भावना

दोहा

लोकस्वरूप

एकादशवी भावना, लोक भावना जान।
लोक बिना मिलता नही, रहने को शुभ स्थान ॥
लोक बिना जाये कहाँ, सारे जीव-अजीव।
लोक भावना पर करे, चिन्तन सूक्ष्म अतीव ॥
"सव्वदव्वाणं भायणं" बतलाया है लोक।
परिभाषाएँ दे रही, हमें स्पष्ट आलोक ॥
षड्द्रव्यात्मक लोक है, अन्य नही कुछ लोक।
परिभाषाएँ दे रही, हमें स्पष्ट आलोक ॥
हुई अस्ति की नास्ति कब, असत नही सद्रूप।
लोक न बना अलोक से, स्थिर है लोकस्वरूप ॥
अस्तिकाय हैं पांच तो, काल नही है काय।
बंध जाये क्षण साथ में, ऐसा नही उपाय ॥

धर्म-स्वरूप

गति-सहायक धर्म है, स्वयं नही गतिमान।
धर्म द्रव्य निर्जीव है, यूँ कहते मतिमान ॥
धर्म एक ही द्रव्य है, कही न इसके खड।
अखंडता पर क्यों नही, होता कहो घमंड ॥
गति करते लोकान्त तक, पुद्गल जीव अनन्त।
वही अन्त गति ले रही, जहाँ धर्म का अन्त ॥

था, है, होगा धर्म नित, कभी न इसका नाश ।
आदि अन्त विरहित इसे, कहता लोक-प्रकाश ॥
मछली की गति मे यथा, बनता सलिल निमित्त ।
अगतिमान जल का नही, गति करने का चित्त ॥
जीव पुद्गलों में सहज, स्थित है गति की शक्ति ।
देता धर्म सहायता, गति पाती अभिव्यक्ति ॥

अधर्म-स्वरूप

स्थिति-सहायक द्रव्य जो, उसका नाम अधर्म ।
"कौन नही रुकते" ? यही, स्थित्यन्तर्गत मर्म ॥
जो रुकना चाहे नही, उसे रोकता कौन ।
रुकने वालों के लिए, स्थिति न धारती मौन ॥

आकाश-स्वरूप

द्रव्य तीसरा दे रहा, द्रव्यों को अवकाश ।
पाते स्थानाभाव से, क्या न पदार्थ प्रणाश ॥
भरे हुए घट में यथा, पाता नमक प्रवेश ।
जल में भी रहते सदा, रिक्ताकाश प्रदेश ॥
भेद प्रथम आकाश का, कहते लोकाकाश ।
अन्य अलोकाकाश है, कहता लोकप्रकाश ॥

काल-स्वरूप

भेद काल के दो किये, क्रिया-वर्त्तना-रूप ।
सूर्यचन्द्र के भ्रमण से, इसका स्पष्ट स्वरूप ॥
समय-घटी-पल-रात-दिन, पक्ष-मास-अयनादि ।
इसके द्वारा जानते, वस्तु अत या आदि ॥
नये पुराने हो रहे, इससे सकल पदार्थ- ।
सभी समझते सुज्ञजन क्रिया काल की सार्थ ॥

चलता ढाई द्वीप में, सूर्य चन्द्र व्यवहार।
मानवजीवन के लिए, क्रिया-काल आधार ।।
काल वर्त्तना रूप से, बनते बाल जवान।
होता ज्येष्ठ कनिष्ठ का, इसके द्वारा ज्ञान ।।

जीव-स्वरूप

जीव द्रव्य उपयोगमय, सदा चेतनावान।
हुआ नही होगा नही, निर्जीवो को ज्ञान ।।
दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप, वीर्य और उपयोग।
सारे लक्षण जीव के, कहते ज्ञानी-लोग ।।
जीव स्व-पर ज्ञाता करे, हित के लिए प्रवृत्ति।
वैसे अपने अहित से, करे स्वतः निवृत्ति ।।
जीया, जीता, और यह, जीयेगा चिरकाल।
जीवनानुभव से इसे, जीव कहा सभाल ।।
जैसी अपनी योग्यता, वैसा लेता प्राण।
जीने वाला जीव है, करो स्वयं पहचान ।।
अपनी काया तुल्य जो, कर्त्ता भोक्ता नित्य।
रूप-रहित उपयोगमय, आत्मा ज्ञानादित्य ।।
भेद किए दो जीव के, संसारी फिर सिद्ध।
सहित रहित जो कर्म से, ज्ञानचिह्न से विद्ध ।।
जो संसारी जीव है, है वे सभी सकर्म।
कर्म प्रगट करते यहाँ, जन्म-मरण का मर्म ।।
जो सिद्धात्मा जीव है, कर्म रहित सुखखान।
जन्म-मरण करते नही, सिद्ध-बुद्ध भगवान ।।

पुद्गल-स्वरूप

स्पर्श-गन्ध-रस-रूपमय, पुद्गल षष्ठम द्रव्य।
पुद्गल का वर्णन प्रवर, सुधियों द्वारा श्रव्य ।।

वर्ण कृष्ण है, नील है, रक्त पीत है श्वेत।
देख रहे जो दृष्टि से, रूप-रंग अभिप्रेत ॥

आम्ल मधुर कटु तिक्तरस, और कषैला जान।
रसनेन्द्रिय से हो रहा, हमें रसों का ज्ञान ॥

सूंघा जाता हो जिसे, उसको कहते गंध।
घ्राणेन्द्रिय से जानते, सुरभिगंध-दुर्गन्ध ॥

लघु-गुरु मृदु-कर्कश तथा, रूखा चिकना स्पर्श।
शीत उष्ण से कर रही, स्पर्शेन्द्रिय संघर्ष ॥

शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, तम, भेद तथा उद्योत।
आतप छाया स्थूलता, पुद्गल के अनुस्रोत ॥

भाषा श्वासोच्छ्‌वास फिर, है जितने आकार।
रचना पुद्गल द्रव्य की, बनते जीव-विचार ॥

तनुमानों के तन सभी, पुद्गल के परिणाम।
चला पुद्गलों के बिना, नही किसी का काम ॥

पुद्गल है परमाणु भी, पुद्गल ही है स्कन्ध।
दोनों का क्या छूटता, पुद्गल से सबंध ॥

पुद्गल द्रव्य अनादि है, पुद्गल द्रव्य अनंत।
पुद्गलमय संसार का, कभी न आता अत ॥

लोक का आकार

षड्द्रव्यात्मक लोक का, सुप्रतिष्ठक संस्थान।
तीन सकोरे रख करो, इस आकृति का ज्ञान ॥

अधोलोक मे नरक की, सख्या होती सात।
विपुल वेदना भोगते, नारक-जन दिन-रात ॥

मध्यलोक में हो रही, मानवता की बात।
सुर पशु भी इस लोक मे, रहते आये साथ ॥

ऊर्ध्वलोक मे देवता, भोग रहे सुखभोग।
सिद्धशिला लोकान्त में, दे इस पर उपयोग ॥

विश्व की विचित्रताएँ

कही कही पर हो रहा, मंगल जय-जयकार।
कही कही पर हो रहा, भयप्रद हाहाकार ॥
इच्छित गुण वय रूप धन, होता कही विवाह।
कही परस्पर दम्पती, लड़ते बिना गुनाह ॥
कही रसोई मे विविध, पकते है आहार।
निराहारिता को कही, मिला हुआ आधार ॥
सात मंजिले झुक रहे, कही सुखद आवास।
कही झोंपड़ी पर नही, नया पुराना घास ॥
कही कही पर दे रहे, सात सात सुत मोद।
कही एक का सुख नही, लाना पड़ता गोद ॥
ज्ञानगोष्ठियों में कही बोल रहे विद्वान।
जड़मतियो का हो रहा, कही-कही अपमान ॥
कही कही पर खिल रहे, कोमल पुष्प गुलाब।
कर्कशता को दे रहे, कांटे कही जबाब ॥
पड़े पड़े सड़ते कही, वस्त्र भरे संदूक।
लाज ढाँकने को कही, नही वस्त्र दो टूक ॥
कही कही पूर्णाङ्गता, करती सुख बक्सीस।
सोलह अगुलियाँ कही, कही कही चौबीस ॥
कही कही पर लोग है, सुखी पूर्ण नीरोग।
कही कही पर हो रहे, लोग रोग के भोग ॥

स्थिति बनाम कर्म

एक दे रहा हर्ष से, अन्न वस्त्र का दान।
एक ले रहा हर्ष से, सहकर भी अपमान ॥

एक उठाता भार सर, एक लादता भार।
हुक्म एक देता उसे, करते सब स्वीकार॥

एक बोलता स्वर-मधुर, अमृत से भी मिष्ट।
एक घोलता जहर स्वर, कर्ण कटुक अतिक्लिष्ट॥

एक मनाए जा रहा, जीवनभर आनन्द।
सहा न जाता एक से, चिन्ताओ का द्वन्द॥

यश का भागी एक है, अपयश भागी एक।
विचित्रताएँ विश्व की, देती नया विवेक॥

पाँचों अंगुलियाँ कभी, होती नहीं समान।
विचित्रताएँ बोलती, है हम कर्म-प्रधान॥

अलग अलग है इन्द्रियाँ, अलग-अलग है शक्ति।
शक्ति बिना उपकरण से, कब पाती अभिव्यक्ति॥

एक नही है कर्म जब, एक न कर्म विपाक।
अलग-अलग होता न क्या, बोतल-बोतल-काक॥

लोक भावना पर सरस, शिव ऋषि का आख्यान।
आख्यानों से मिल रहा, हमको ऊँचा ज्ञान॥

राग : राधेश्याम

कथा स्थल

हस्तिनागपुर बाहर सुन्दर, सहस्राम्र नामक उद्यान।
सुखप्रद शीतल छाया देता, नन्दनवन सम रम्य महान॥

शिव नामक राजा शिवकारक, सुखदायी हिमवान समान।
पटरानी का नाम धारणी, शांतिकारिणी अति गुणवान॥

सुत शिवभद्र पिता-माता के, मन को उपजाता संतोष।
भाग्यशालियों के पुत्रो में, मिलते व्यसन न मिलते दोष॥

राजा के विचार

सुत-पशु-राज्य-राष्ट्र-बल-वाहन, पुर-अन्तःपुर-कोष्ठागार।
सभी ओर से मैं बढ़ता हूँ, बढने का है कहाँ शुमार॥
भोग रहा हूँ भोग योग से, सामन्तादिक है आधीन।
आये हुए उदय मे मेरे, किए पुण्य जो है प्राचीन॥
अच्छा है कल प्रातः सुत को, राज्य सौप कर लूँ सन्यास।
दिक् प्रोक्षक तापस बन करके, करूँ तपस्या का अभ्यास॥
यावज्जीवन बेले-बेले, तप करना है श्रेयस्कर।
तपस्वियों ऋषियों को लगता, कभी नही मरने का डर॥
गंगा तटवासी तापस जन, विविध क्रियाओं के धारी।
मेल-कन्द-फल-पुष्प-पत्र त्वक, बीज-वायु-जल-आहारी॥

दीक्षा और तप

जैसा सोचा वैसा प्रातः, सुत को सौपा शासन-भार।
बिना व्यवस्था किए राज्य की, जाने का क्या है अधिकार॥
आज्ञा ले शिवभद्र नृपति की, प्रीतिभोज कर एक महान।
दिशाप्रोक्षकों की ले दीक्षा, लगे लगाने तप पर ध्यान॥
आतापना भूमि से उतरे, प्रथम छट्ठ को पूरा कर।
वल्कल वस्त्र किए हैं धारण, जिधर झोपड़ी गए उधर॥
छबड़ी काबड़ लेकर निकले, पूर्व दिशा को पूज लिया।
सोम ! करें संरक्षण मेरा, द्रव्य ग्रहण हित बूझ लिया॥
कन्द मूल फल पत्र ग्रहण कर, आये अपने स्थान तुरन्त।
काबड़ रखी, प्रमार्जन लीपन, करके किया अशुचि का अंत॥
डाभ और घट लेकर आये, गंगातट पर स्नान किया।
किया आचमन, की जलक्रीड़ा, तपविधियों पर ध्यान दिया॥
पुनः झौपड़ी मे आ नूतन, किया वेदिका का निर्माण।
डाभ वालुका कुश तीनों ही, होते जिसके जीवन-प्राण॥

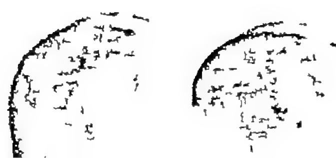
शिव संन्यासी ने किया, अक्षरशः स्वीकार।
जैनी दीक्षा ग्रहण कर, उतर गये भव पार ॥

राग : राधेश्याम

भावना की उपयोगिता

लोक भावना भाई जिससे, शिवराजर्षि बने हैं मुक्त।
सत्य कथानक की होती है, उपादेयता भी उपयुक्त॥
शंका-कांक्षा करो न कोई, अपनी आस्था अटल रखो।
समाधान करने वालों के, सम्मुख तर्क जटिल रखो॥
जो जिनवर ने बतलाया वह, सत्य और सम्पूर्ण विशुद्ध।
रंग एक जैसा होने से, एक न होते सारे दुद्ध॥
'मुनि गणेश शास्त्री' का कहना, मानो समझो लोक-स्वरूप।
छाया को जो समझोगे तो, क्या न समझ पाओगे धूप॥
ग्यारहवी यह लोक भावना, लिखी स्वयं की भाषा में।
पेय अलग हो पर अंतर क्या, आता कही पिपासा में॥

☆



: १२ :

बोधिदुर्लभ-भावना

अरणी की लकड़ी को घिसकर, वह्नि प्रज्वलित करली है।
अग्निदेवता से दांये ये, सातो[1] चीजे धर ली हैं ॥
होम किया मधु घृत चावल से, वैश्वदेव का कर पूजन।
किया अतिथि का पूजन फिर कुछ, लिया स्वयं ने शुद्ध अशन ॥

विभंग ज्ञान पाया

दिशा बदलती विधि न बदलती, नही बदलते मन परिणाम।
समय निकट आये पकने का, तभी पका करता है आम ॥
चौथा हुआ पारणा जिस दिन, उस दिन उपजा ज्ञान विभंग।
सात द्वीप तक सात सिंधु तक, लगे देखने लौकिक-रंग ॥
आतापन का विनीतता का, प्रकृतिभद्रता का यह फल।
अंतर-रहित तपस्या का फल, आत्मा कर देता उज्ज्वल ॥
कहने लगे तापसों से या, सुनने वाले जन-जन से।
सात द्वीप है सात सिंधु है, देखे मैंने दर्शन से ॥
सात द्वीप से सात सिंधु से, आगे द्वीप समुद्र नहीं।
शिवराजर्षि बोलते ऐसा, मेरा कहना क्षुद्र नही ॥
जिधर लगाओ कान उधर ही, बाते ऐसी करते लोग।
बाते फैलाने वालो के, भद्र लोग बन जाते भोग ॥

गौतम का प्रश्न

महावीर प्रभु वहाँ पधारे, गए गौचरी को गौतम।
सुना कान से सुना ध्यान से, द्वीप-सिंधु हित फैला भ्रम ॥
आए प्रभु से पूछा प्रभुवर ! ऐसा कहते शिव ऋषिवर।
जो है सत्य सुनावो स्वामी, शंका फैल रही घर-घर ॥
प्रभु बोले जो तुम सुन आए, हे गौतम ! वह सत्य नही।
संख्यातीत समुद्र द्वीप हैं, सर्वज्ञों हित सत्य सही ॥

---

१ १. सकथा (उपकरण विशेष), २. वल्कल, ३. दीप, ४. शय्या के उपकरण, ५. मण्डल, ६. दण्ड, ७ स्वयं का शरीर।

जम्बूद्वीप द्वीप है पहला, लवणसमुद्र समुद्र प्रथम।
सुनो स्वयंभूरमण सिंधु तक, द्वीप समुद्रों वाला क्रम॥

विभंग ज्ञान चला गया

लोगों में यह चर्चा फैली, प्रभु कहते जो सच्चा है।
शिवराजर्षि बताते हैं जो, ज्ञान अभी तक कच्चा है॥
बालतपस्वी को जब तप से, हो जाता है ज्ञान विभग।
जितना उसे दिखाई देता, उसे मानता पूरा अग॥
श्रीसर्वज्ञों के वचनो मे, वह करता विश्वास नही।
छोटे दीपक से कब हो पाता, सूर्य समान प्रकाश नही॥
प्ररूपणाएँ मिथ्या शिव की, उनका ज्ञान विशिष्ट नही।
"आगे कुछ भी नही बोलना", महावीर को इष्ट नही॥
शिवराजर्षि हो गए शंकित, सुन बहुजन मुख की वाणी।
अपने पर दृढ़ आस्था वाले, होते है विरले प्राणी॥
ज्ञानर्विभंग मिला था जो वह, चला गया वापिस तत्काल।
धन क्या चला नही जाता है, जो न रखा जाये संभाल॥
धर्म कारणो से होता है, अवधिज्ञान उत्पन्न भला।
वापिस भी वह जा सकता है, जो रखने की हो न कला॥

दोहा

दीक्षा और निर्वाण

सोचा शिवराजर्षि ने, उत्तम है यह काम।
महावीर प्रभु के निकट, जावूँ करूँ प्रणाम॥
आए अपने उटज पर, उपधि ले लिए साथ।
अच्छा करने में कहो, लज्जा की क्या बात॥
आये प्रभु के पास मे, वंदन किया विशेष।
महावीर प्रभु ने दिया, सत्य-सत्य उपदेश॥

मनुष्यत्व, श्रुति धर्म की, श्रद्धा, संयम सार ।
अति दुर्लभ ससार में, अग प्रमुख ये चार ॥
आत्मा काल अनादि से, भटक रहा ससार ।
कब पायेगा क्या पता, भव-सागर का पार ॥

12

बोधिदुर्लभ-भावना

दोहा

बोधि दौर्लभ्य

सुलभ अन्य सब वस्तुएँ, सुलभ नहीं संबोध ।
फलती है संबोध से, परम शांति की पोध ।।
जड़ चेतन की भिन्नता, जो लेता है जान ।
उसको ही संप्राप्त है, शुभ संबोध महान ।।
समकित में सबोध मे, किंचित मात्र न भेद ।
भेद-ज्ञान कहते उसे, कहते हम निर्वेद ।।
पाया क्षणभर के लिए, जिसने सम्यक्ज्ञान ।
उसने निश्चित कर लिया, सिद्धशिला पर स्थान ।।

चार अंग

"दुल्लहे खलु माणुसे" सुलभ नही नरदेह ।
नर को चाहे क्यों न हो, परभव पर संदेह ।।
लिए सभी के देखलो, दुर्लभ चारों अंग ।
एक दूसरे के बिना, नहीं निखरता रंग ।।
मनुष्यत्व, श्रुतिधर्म की, श्रद्धा, संयम सार ।
अतिदुर्लभ ससार में, अंग प्रमुख ये चार ।
आत्मा काल अनादि से, भटक रहा संसार ।
कब पायेगा क्या पता, भव-सागर का पार ।।

धर्म के साधन

आर्यक्षेत्र की प्राप्ति से, नर बन जाता आर्य ।
आर्य जनों ने ही किए, धर्म नीति के कार्य ॥

उत्तम कुल की प्राप्ति से, उत्तमता की प्राप्ति ।
स्वतः नीचता की न क्या, होती कहो समाप्ति ॥

श्रमणेन्द्रिय की पूर्णता सुना रही सद्धर्म ।
वधिर व्यक्ति को कब मिला, धर्म श्रवण का मर्म ॥

रसनेन्द्रिय की पूर्णता, करवाती जिन जाप ।
किए हुए कटते न क्या, नाम जाप से पाप ॥

देती देह निरोगता, तप करने की शक्ति ।
काया शक्ति बिना नही, हो पाती है भक्ति ॥

जिनदर्शन करवा रही, नेत्रेन्द्रिय परिपूर्ण ।
कूट फटक छाने बिना, कभी बना क्या चूर्ण ॥

कैसे धर्म क्रिया करे, जो न मिले आरोग्य ।
लिए भोग के भी न क्या, रोगी रहा अयोग्य ॥

अगर न हो धन पास में, तो कैसे दे दान ।
धर्म साधनों में रहा, धन का भी कुछ स्थान ॥

वह मूर्ख है

पाकर नरभव जो नहीं, करता धर्म अमोल ।
वह चिन्तामणि रत्न का, क्या पहचाने मोल ॥

पाकर श्रुति सुनता न जो, जिन प्रवचन का सार ।
वह करि[1] से ढोता न क्या, काष्ठेन्धन का भार ॥

धर्म कमाने के लिए, करता जो न प्रयत्न ।
काक उड़ाने के लिए, फेंक रहा वह रत्न ॥

---

१ हाथी

मति पाकर मति जो न की, जिनमति के अनुकूल।
वह सोने के थाल में, डाल रहा है धूल॥
तरस रहे है देवता, पाने को नर देह।
जिसे मिली वह धर्म में, क्यों रखता संदेह॥
सरिता तट पर हो खडे, पिया नही जो नीर।
धर्म किया नर ने न जो, बात बड़ी गम्भीर॥
फलित कल्पतरु पा न जो, फल कर सकता प्राप्त।
धर्म किया नर ने न जो, सारी बात समाप्त॥
बार-बार मिलता नही, मानव का अवतार।
क्षुद्र जन्तुओं से न क्या, भरा पड़ा संसार॥

कठिनाइयों का जाल

धर्म पंथ क्या एक है, एक नही विद्वान।
हुई सचाई की यहाँ, अति दुर्लभ पहचान॥
करते सुर न सहायता, आकर के प्रत्यक्ष।
कठिन समझना हो रहा, धार्मिक पक्ष-विपक्ष॥
महापुरुष मिलते नही, कोई अतिशयवत।
युग के प्रश्नों का कही, नही दीखता अत॥
किससे पूछे ? क्या करें ?, निर्णय अंतिम एक।
सबसे बढकर शत्रु है, अपना ही अविवेक॥
जो नर ऐसे समय मे, है दृढ आस्थावान।
उस नर को माने न क्यों ? भाग्यवान गुणवान॥

अवसर का लाभ

मानव ! जब तक देह को, घेर न लेते रोग।
तब तक करले धर्म का, अपने लिए प्रयोग॥
बना बुढापे का नही, जब तक देह शिकार।
तब तक अपने चित्त मे, तू धर्मांश उतार॥

जब तक पाँचों इन्द्रियाँ, बनती नहीं हराम ।
तब तक करले जीव तू, कोई भी शुभ काम ॥
आता-जाता शांति से, जब तक श्वासोच्छ्वास ।
तब तक करले धर्म पर, रे चेतन ! विश्वास ॥
पानी टिक पाता नही, जब फट जाए पाल ।
नर ! उत्तम अवसर अभी, अपने को संभाल ॥
विघ्न बहुत अघ बहुत है, धर्म श्रेय है स्वल्प ।
किसको जीना है यहाँ, बता हजारों कल्प ॥

राग : राधेश्याम

एक नहीं, तेरह

आलस्य—१

आज नहीं बस कल जाएँगे, अभी नहीं फिर जायेंगे ।
ऐसे जो आलस्य किया वे, क्या प्रवचन सुन पायेंगे ॥

मोह—२

मोह खड़ा हो गया सामने, तन का, धन का, परिजन का ।
मिटा नही पायेंगे वे नर, संशय अपने जीवन का ॥

अवज्ञा—३

जिन-जिनवचन, श्रमण के प्रति जो, रहा अवज्ञा का कुछ लेश ।
वे न पहुँच पायेंगे देखो, सुनने को श्री जिन-उपदेश ॥

अहंकार—४

हम हैं बड़े धनी मानी जन, हम क्यो जाएँ सुनें कथा ।
धर्म-श्रवण में बाधक बनती, अहंकार की बड़ी व्यथा ॥

क्रोध—५

क्रोध न सुनने देता सुख से, जिन-प्रवचन की एक कड़ी ।
वे सुन पाते वे ले पाते, जो रखते हो शान्ति बड़ी ॥

प्रमाद—६

सोएँ - खेलें - कूदें - नाचें, गाएँ - देखे - खेल नये।
ऐसे बड़े प्रमादी जन क्या, धर्म-श्रवण के लिए गये॥

कृपणता—७

जाएँगे जो धर्म-श्रवण हित, तो कुछ करना होगा दान।
अपनी बड़ी कृपणता से ही, लुक-छिपकर पलता अज्ञान॥

भय—८

सामाजिक-भय बाधा बनता, धर्मश्रवण हित जाने में।
क्योकि समाज बड़ा तगड़ा है, बाते नई उड़ाने में॥

शोक—९

परम्परा ने जिसको पाला, शोक न सुनने देता धर्म।
धर्मक्रिया करने में ही बस, मन को खा जाती है शर्म॥

अज्ञान—१०

मुझे नही कुछ ज्ञान भला मैं, कैसे सुनने को जाऊँ।
बैठ साथियों के सह[1] कैसे, हास्य पात्र मैं कहलाऊँ॥

व्याकुलता—११

व्याकुलताएँ अपने मन की, क्या प्रवचन सुनने देती।
कांटों की तीखी नोंके क्या, कलियों को चुनने देती॥

कुतूहल—१२

कुतूहली क्या सुन पायेंगे, शास्त्रो की सात्त्विक बातें।
किस्सों और उपन्यासों में, जो करते काली रातें॥

खेलरुचि—१३

खेल-तमाशों की रुचिवाले, क्या सुनने को आयेंगे।
रुचि के बिना किए भोजन से, नही पुष्टता पायेंगे॥

---

१ साथ

दोहा

फिर नहीं मिलेगा

धर्म-श्रवण मिलता न जो, तो क्या मिलता ज्ञान ।
ज्ञान बिना मिलता नही, विद्वानो में स्थान ।।
मिलना अति दुर्लभ यहाँ, सद्‌गुरु का संयोग ।
लोभी गुरु की बात से, बहुत ठगाते लोग ।।
जिनोपासना जीव को, दुर्लभ है अत्यन्त ।
हुआ कुदेवो का कहाँ, इस कलियुग में अंत ।।
दया धर्म की प्राप्ति भी, अति दुष्कर पहचान ।
धर्म आड़ में देखलो, पलता पाप महान ।।
उत्तम अवसर खो दिया, तो पाओगे कष्ट ।
उदाहरण द्विज का पढ़ो, आशय होगा स्पष्ट ।।

राग : राधेश्याम

द्विज की कथा

राज सभा में द्विज इक आया, वर मिलने की ले आशा ।
कितने समय रहा जाएगा, लज्जा से भूखा-प्यासा ।।
माँगे बिना अगर मिलता हो, कौन माँगने से राजी ।
इसीलिए तो कहा गया है, अपना पेट बड़ा पाजी ।।
द्विज ने आशीर्वाद दिया है, चक्री ने सम्मान दिया ।
दिया हुआ द्विजवर ने अपने, योग्य सभा मे स्थान लिया ।।

क्या माँगे

कहा चक्रवर्ती ने द्विजवर ! इच्छितवर ले सकते आप ।
उत्पादन के लिए कभी भी, करना पडे न कोई पाप ।।
द्विज ने सोचा घर जाकर घर-वाली की लूं क्यो न सलाह ।
धर्मपत्नियां क्या न थामती, जब पति होता हो गुमराह ।।
स्त्री बोली—सौ दो सौ मांगो, मांगो मुहरे एक हजार ।
द्विज ने कहा—सोचलो पहले, करलो अच्छी तरह विचार ।।

मुहरें कितनी ही हों चाहे, आखिर होंगी क्यों न समाप्त ।
ऐसा वर मांगा जाए जो, जीवनान्त तक हो पर्याप्त ॥

सोना चांदी हीरे मोती, माणक मांगो मांगो ग्राम ।
कौन रुखालेगा इन सबको, भारी बन जाएगा काम ॥

हम है अतिनिर्बल बलशाली, लोग छीन ले जाएंगे ।
लड़ा नही जायेगा हमसे, हम बैठे पछताएगे ॥

वर है एक विवेक सहित हम, माँगे जिससे सुख पाये ।
चक्री से वर मिलने पर भी, क्यों हम मन में दु.ख पाये ॥

क्षैरेयी पूड़ी का भोजन, प्रतिदिन मिले हमें घर घर ।
उठते समय दक्षिणा मे फिर, मिले स्वर्णमय एक मुहर ॥

नही पकाना केवल खाना, पाना एक मुहर उत्तम ।
ऐसा ही वर माँगा जाए, निर्णय पर आते हैं हम ॥

पहले दिन का भोजन

आया द्विजवर राजसभा मे, बोला ऐसा दो वरदान ।
खीर पूड़ियो का भोजन हो, एक मुहर का ऊपर दान ॥

घर-घर पर जाकर कर लेगे, ज़ितने घर कहलाते है ।
नही किसी पर भार पड़ेगा, निर्णय सत्य सुनाते हैं ॥

मन ही मन मे किंचित हँसकर, चक्री ने वर दिया तुरन्त ।
जैसा जिसका भाग्य कर्म हो, उसको वैसा मिलता पंथ ॥

आज प्रथम दिन का भोजन हो, मेरे ही इस आंगन में ।
पाकर इच्छित वर द्विजवर अति, हर्ष मनाता है मन मे ॥

ब्राह्मण और ब्राह्मणी ने मिल, पाया भोजन पाया दान ।
भोजन और दान जो देता, देता वह पूरा सम्मान ॥

नए नए आवासो मे अब, मिलने लगा इन्हे भोजन ।
राजाज्ञा से सभी नागरिक, करते इसका आयोजन ॥

बारी कब आये

जैसा स्वाद मिला पहले दिन, कभी नही फिर वह पाया।
खीर वही है वही पूड़ियाँ, अंतर इतना क्यों आया ॥
अब फिर बारी कब आएगी, क्योंकि घरों का पार नहीं।
चक्रवर्ति के शासन धन का, छोटा-सा संसार नही ॥
छोटे बड़े शहर पुर कितने, उनमें फिर कितने घर हैं।
सबके पूरे हो जाने पर, आता पहला नम्बर है ॥
एक जन्म क्या ? जन्म अनेकों, करने पर आए बारी।
ब्राह्मण के मन की इच्छा का मन पर भार बढ़ा भारी ॥
सोच रहा है मन ही मन में, मांगा क्यों मैंने यह वर।
भोजन चक्री के घर का ही, मुझे माँगना था तज डर ॥

क्या ले ?

ऐसे ही इस मानव भव का, नम्बर आना है मुश्किल।
क्योंकि योनियो, कुलों, जातियों की सख्या है बड़ी जटिल ॥
एक एक भव मे भी कितना, काल बिताना पड़ता है।
नाम जीव रहता है केवल, कब हट पाती जड़ता है ॥
उदाहरण से स्पष्ट हो गया, कितना दुर्लभ मानव तन।
मानवतन से भी अतिदुर्लभ, धर्मशास्त्र का सत्य श्रवन ॥
धर्म-श्रवण मिल जाने पर भी, अति दुर्लभ होना आस्था।
आस्था हो जाने पर भी अति, दुर्लभ है पाना रास्ता ॥
दुर्लभता पर सोचो, समझो, खोवो मत इस अवसर को।
बार-बार क्या कहना पड़ता, कभी बुद्धिशाली नर को ॥
"मुनि गणेश शास्त्री" का कहना, शास्त्रो के प्रतिकूल नही।
फिर भी ऐसा नही समझता, मेरी होती भूल नही ॥
कही भूल हो गई दिखे तो, क्षमा करे विद्वान मुझे।
वहुत बड़े विद्वानों जैसा, अभी कहाँ है ज्ञान मुझे ॥

□

: १३ :

मैत्री-भावना

जीव समी ससार के, बनो पाप से मुक्त ।
मैत्री करने के लिए, चिन्तन यह उपयुक्त ॥
कोई हिसा क्यों करें, सारे जीव समान ।
सवको प्यारे क्या नहीं, अपने अपने प्रान ॥

13

मैत्री भावना

दोहा

मैत्री का स्वरूप

उत्तम मैत्रीभावना, तेरहवी सुखकार।
शत्रु नही कोई यहाँ, मित्र सकल ससार॥
मैत्री से होता स्वतः मैत्री का विस्तार।
बीज बिना क्या विटपि ने, लिया कभी आकार॥
वैर बढाता वैर को, किचित् मात्र न फर्क।
उपजा करती मगज मे, यथा तर्क से तर्क॥
करना मगल कामना, औरो की दिन-रात।
मैत्री करना क्यों नही, कहो एक के हाथ॥
क्लेश मिटो चिन्ता हटो, कटो रोग सब कष्ट।
सुखी बनो सारा जगत, मैत्री करलो स्पष्ट॥

वैर क्यों ?

कितने दिन जीना यहाँ, करो वैर का त्याग।
वैर नही समझो इसे, एक तरह की आग॥
छोटी बातों से बड़ा, बँध जाता है वैर।
जहां वैर रहता वहाँ, नही शान्ति की खैर॥
कभी न देखा वैर ने, सामाजिक सम्बन्ध।
वैरी बन जाता न क्या, सभी तरह से अंध॥

सब जीवो के साथ में, जुड़े सभी सम्बन्ध ।
किसे पराया हम कहे, तजे वैर की गंध ॥
विश्व कुटुम्ब समान है, ऐसा करो विचार ।
क्या कोई भी चाहता, दुखी बने परिवार ॥
पंचेन्द्रिय होंगे न क्या, जो एकेन्द्रिय आज ।
उनसे मैत्री जो करे, तो इसमें क्या लाज ॥

मैत्री हो

जिनके मन की भावना, कलुषित रहती नित्य ।
वहां मित्रता का उगो, सहस्रांशु-आदित्य ॥
बोल-बोल कर जो बुरे, करते पुष्ट विरोध ।
उन्ही विरोधों को गिनो, शुभ आमोद-प्रमोद ॥
लिए वैर के जो यहाँ, करते जन प्राणांत ।
बनो वैर की भावना, पूर्णतया उपशांत ॥
करनी होगी एक को, पहले वैर-विशुद्धि ।
"मैं क्यों छोड़ूँ" अहं को, बुरी यही है बुद्धि ॥

मैत्री का आधार

जीव सभी ससार के, बनो पाप से मुक्त[१] ।
मैत्री करने के लिए, चिन्तन यह उपयुक्त ॥
कोई हिंसा क्यों करे, सारे जीव समान ।
सबको प्यारे क्या नही, अपने अपने प्राण ॥
स्वार्थ लोभ भय वश नही, कोई बोले झूठ ।
दिखलाए क्यों सत्य को, कष्ट काल में पूठ ॥
बांट बांट सबको यहाँ, दिया गया अधिकार ।
चोरी करने के उठे, क्यो फिर बुरे विचार ॥

---

१ मा कार्षीत् कोपि पापानि —योगशास्त्र—४।११८

बने ब्रह्मचारी सभी, बने सभी आत्मस्थ ।
लिंग भेद को हम करे, संध्या पहले अस्त ॥

आवश्यकता से अधिक, रखी न जाए वस्तु ।
कोई भूखा क्यों रहे, सुखी सभी जन अस्तु ॥

सुखी रहूँ मै सर्वथा, सुखी रहे परिवार ।
ऐसे ही सोचे न क्यो, सुखी रहे ससार ॥

अलग न रह सकते यहाँ, इस दुनिया से आप ।
पड़ता ही है भोगना, साथ पुण्य या पाप ॥

यह उचित है

करता है यदि दूसरा, अपने पर कुछ कोप ।
करे न हम अपने लिए, शांति प्रेम का लोप ॥

है सत्पुरुषों के लिए, करना कलह अयोग्य ।
बनती नर आहार्य क्या, विष्ठा शूकर भोग्य ॥

सरल बनो दुश्मन सभी, तजकर मत्सरभाव ।
वैर स्वभाव न जीव का, माना वैर-विभाव ॥

पड़ता मैत्रीभाव का, जग पर पूर्ण प्रभाव ।
मित्र मानता मित्र का, डाला गया दबाव ॥

एक बार जिसको मिला, मैत्री का आनन्द ।
वह कर लेगा क्यो नही, द्वार वैर का बन्द ॥

घर से शुरूआत

अपने घर से कीजिए, मैत्री का प्रारंभ ।
महल बनाने के लिए, यथा चाहिए स्तभ ॥

भाई-भाई से करो, भाई-चारा आप ।
भाईचारे से मरा, क्या न वैर का सांप ॥

हुआ बहन से क्या सहन, बहन-बंधु का खार ।
बहन-भाइयों मे करो, मैत्री का व्यवहार ॥

पत्नी से बढ़कर नहीं, सच्चा साथी मित्र।
स्थापित करके मित्रता, नया बनालो चित्र॥

स्वजन जनों से मत रखो, मन में आप दुराव।
सुधरेगा उनका स्वतः, जो है बुरा स्वभाव॥

मित्र बनाएँ मित्र को, तो न अधिक आश्चर्य।
मित्र बनाएँ शत्रु को, कार्य न यह सौकर्य[1]॥

शत्रु बनाते आप ही, आप बनाते मित्र।
बनता अपने आप कब, कोई रेखाचित्र॥

शत्रु, मित्र से बन रहे, और शत्रु से मित्र।
पल-पल जाता पलटता, चढ़ा हुआ चलचित्र॥

मित्र अधिक हो शत्रु कम, उसका जीवन धन्य।
शत्रु अधिक हो मित्र कम, जीवन वही नगण्य॥

मैत्री बढ़ाइये

अर्थ बढ़ाने के लिए, जाते हो परदेश।
मित्र बढ़ाने का करे, उद्यम एक विशेष॥

देह बढ़ाने के लिए, कसरत करते आप।
मित्र बढ़ाने के लिए, तजो घृणान्वित पाप॥

ज्ञान बढ़ाने के लिए, करते ज्यों स्वाध्याय।
मित्र बढ़ाने के लिए, मैत्री श्रेष्ठ उपाय॥

बढा न पाये मित्रता, है क्या वह इन्सान।
घटा न पाये शत्रुता, उसे कहाँ है ज्ञान॥

तोद बढ़ाने से यहाँ, केवल बढ़ता तोल।
बढ़ा लीजिए मित्रता, बढ जायेगा मोल॥

---

1 सरल

मैत्री की असीमितता

रखती सीमित मित्रता, गुप्त शत्रुता साथ ।
प्रेम असीमित कीजिए, समझ लीजिए बात ॥
ज्ञान, प्रेम, प्रभु, मित्रता, इनका कही न अंत ।
करले, पाले, परखले, ऐसा कहते सत ॥
भिन्न न रहते मन वचन, हृदय न रहते भिन्न ।
अभिन्नता से हो रही, हाय भिन्नता खिन्न ॥
क्रोध कलह अपवित्र है, मैत्री परम पवित्र ।
कभी न लड़ते झगड़ते, देखे हमने मित्र ॥
मैत्री कर देती न क्या, एक विचार-प्रचार ।
मैत्री का भर दीजिए, जन्म समय संस्कार ॥
हृदय-हृदय की भावना, समझा करता स्पष्ट ।
लोग छिपाने के लिए, व्यर्थ उठाते कष्ट ॥
चन्दन वाले सेठ का, उदाहरण लो देख ।
देख लोक को हम रखे, अपना सही विवेक ॥

राग : राधेश्याम

सेठ की चिन्ता

एक धनाढ्य सेठ के चलता, चन्दन का व्यापार बडा ।
बहुत मगाता बहुत बेचता, फिर भी रहता बहुत पड़ा ॥
एक बार मंदी आने से, सेठ आ गया घाटे मे ।
घाटा पडने लगा सेठ के, प्रतिदिन वाले आटे मे ॥
चिन्तित रहने लगा सेठ अति, कभी नही हँसता खुलकर ।
चिन्ता करने वाला मरता, चिन्ताओ मे घुल-घुलकर ॥
जो अपना राजा मर जाए, तो कुछ बिक जाए चन्दन ।
चन्दन लेने को क्या ये फिर, जायेगे बोलो लन्दन ॥

रोग फैलाने से औषधियाँ, जैसे बिकती अपने आप ।
फैले रोग, न ऐसा चाहो, ऐसे भाव बड़ा है पाप ।।

भाव का प्रभाव

उसी देश के वसुधाधिप का, अब है जन्मोत्सव आया ।
जन्मोत्सव के समय शहर को, भली-भाँति से सजवाया ।।

प्रमुख व्यक्ति पुरवासी आये, लाए नए-नए उपहार ।
जैसी प्रथा देश की होती, वैसा ही करता संसार ।।

चन्दन का व्यापारी भी था, उन सब सेठों में शामिल ।
भेट हाथ में हर्ष बात मे, साथ नही देता है दिल ।।

सब से उपहृति ली राजा ने, भव्याकृति से बने प्रसन्न ।
अप्रसन्न इससे अति होकर, नृप ने रोष रखा प्रच्छन्न ।।

कुशल प्रश्न व्यापार, सारकी, बाते कर घर गये सभी ।
राजा मन में लगा सोचने, ऐसे भाव न उठे कभी ।।

एक सेठ यह बुरा लगा क्यों, इसने कुछ न बिगाड़ा है ।
अच्छे है जो सभी सेठ तो, एक सेठ क्यों माड़ा है ।।

मन्त्री को बुलवाकर सारी, मन की व्यथा सुनाता है ।
पता लगावो क्या है कारण, नही समझ में आता है ।।

मन्त्री ने की खोज शुरू अब, बना सेठ का मित्र महान् ।
मित्र बनाये बिना सुनाये, कौन कहानी व्यथा-प्रधान ।।

बोला सेठ बड़ी मन्दी है, चलता कुछ व्यापार नही ।
इतने दिन हो गए देखलो, घिरता भी बाजार नही ।।

कोई सेठ मरे या राजा, तो कुछ चन्दन बिक जाये ।
कुछ चन्दन बिकने से ही बस, एक बार तो टिक जाये ।।

समझ गया मन्त्री मन ही मन, उसने इसका ढूँढ़ा पंथ ।
स्वार्थपरायण व्यक्ति चाहता, औरों के जीवन का अन्त ।।

कहा एक दिन सुनो सेठजी ! अपने राजा है बीमार ।
बहुत दिनों से वैद्यराज का, चलता है उत्तम उपचार ॥
नृपहित चन्दन की लकड़ी से, भोज्य बनाया जायेगा ।
सुबह शाम मध्यान्ह रात को, जब भी राजा खायेगा ॥
जितना चन्दन हमें चाहिए, क्या उतना दे देंगे आप ।
आप मित्र है बहुत पुराने, फिर भी बात चाहिए साफ ॥
बोला सेठ सुनो मन्त्री जी !, पूर्ण व्यवस्था कर दूँगा ।
जितनी आज्ञा होगी उतने, मलयज से घर भर दूँगा ॥
सेठ सोचने लगा नृपति यह, जीवित रहो पचासों वर्ष ।
अपना चन्दन का धन्धा भी, पा जाए बस चरमोत्कर्ष ॥
जन्म दिवस फिर आया नृप का, गये सेठ ले-ले उपहार ।
यह भी सेठ साथ में आया, जिसके चन्दन का व्यापार ॥
देखा इसे नृपति ने मन में, इसके प्रति उमड़ा सद्भाव ।
लगने लगा प्राण से प्यारा, पड़ा परस्पर प्रेम-प्रभाव ॥
उठकर गले लगा लू इसको, रामभरत सम कर लूं प्यार ।
बार-बार उठ रहे हृदय मे, प्रेमप्रपूरित नए विचार ॥
छिपा लिया अपने भावो को, सोचा क्या है छुपा रहस्य ।
मन्त्रीजी से कहा नृपति ने, पता लगावो आप अवश्य ॥
मन्त्री बोला वही सेठ है, जिसे देखकर आया रोष ।
आज इसे ही देख आपके, मन में उपज रहा सन्तोष ॥
इसका कारण आज आप से, सही सही बतला देता ।
मन्त्री वह मतिमान क्या न है ? जो सारी इतला देता ॥
मन्दी आई बिका न चन्दन, सेठ आ गया घाटे में ।
सात पीढियाँ बह जाती है, मन्दी के सन्नाटे में ॥
सोचा इसने सेठ मरे या, मरे बड़ा कोई राजा ।
कुछ तो चन्दन बिक जाये बज जाए तेजी का बाजा ॥

गुण लेना गुण गाना सीखो, रखो भावना सदा प्रमोद ।
इससे बढ़कर नहीं मिलेगा, इस जीवन में अन्य विनोद ॥
गुणी-गुणी मिल ग्रहण करो गुण, रखो नहीं ईर्ष्या मन में ।
गुणियों का सम्मिलन बहुत ही, कम होता है जीवन में ॥

14
प्रमोद-भावना

दोहा

गुणानुराग

गुण के प्रति अनुराग को, कहते भाव प्रमोद ।
चौदहवीं यह भावना, देती भव्य विनोद ।।

केवल मैं ही हूँ गुणी, करो न यह अभिमान ।
गुणी बहुत हैं अन्य भी, उनको लो पहचान ।।

करना आवश्यक यहाँ, गुण-अवगुण का ज्ञान ।
केवल गुण-गुण ग्रहण कर, बन जाओ गुणवान ।।

गुण देखो, देखो नही, जाति-वर्ण-कुल-अंग ।
ज्यों रंगने के काम में, आते सारे रंग ।।

गहरे फीके क्या नहीं, होते सारे रंग ।
गुणवानों के एक सम, कब होते है ढंग ।।

विशेषताएँ देखिये, मिली अगर गुण-दृष्टि ।
अपनी इस गुणदृष्टि से, सजती है गुण-सृष्टि ।।

गुणीजनों के साथ

गुणवानो के साथ मे, रहना करो पसन्द ।
सहज प्राप्त होगा सुनो, जीवन का आनन्द ।।

गुणवानों के साथ मे, करो प्रेम से बात ।
इसमें क्या आपत्ति है, कुछ आयेगा हाथ ।।

गुणवानों का संग ही कहलाता सत्संग।
जीवन के उत्थान का, तजिये नही प्रसंग॥

गुण और संसार

कण-कण में गुण व्याप्त है, द्रव्य सकल गुणवान।
किन्तु न गुण का अंत है, सीमित अपना ज्ञान॥

फूल नही, फल भी नही, देती केवल पान।
पानवेल को मिल रहा, फिर भी अति सम्मान॥

फल न केवड़े पर लगा, नही पनस पर फूल।
इन्हें बनाकर की कहो, प्रकृति ने क्या भूल॥

विटपि बड़ा बंबूल का, रखता तीखे शूल।
दे सकता वह गोंद जो ले लो बन अनुकूल॥

दधिमन्थन कर ले लिया, जितना था नवनीत।
गुण लेने की क्या नहीं, बहुत पुरानी रीत॥

पय-दधि-आज्य[1] गया कही, रही अकेली तक्र।
गुण उसमें होता न जो, नहीं चाहते शक्र॥

विष से भी अमृत अगर, मिलता तो क्या दोष।
गुणग्राहकता ही हमें, उपजाती संतोष॥

पड़ा अपावन स्थान पर, स्वर्ण उठाते आप।
होती तद्गत मलिनता, धो लेने से साफ॥

दुष्कुल से स्त्री-रत्न[2] को, लेने में क्या दोष।
बना न गुण उत्पत्ति का, सिर्फ एक ही कोष॥

किसी नीच के पास में जो हो उत्तम ज्ञान।
लेने मे समझो नही, किंचित भी अपमान॥

---

१ घृत
२ स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि

जहाँ से मिले, लो

घाव बखानो शत्रु के, क्या न कहावत सत्य ।
गुण लेने की भावना, नही छुपाती तथ्य ।।
यह छोटा यह नीच है, है यह दुश्मन एक ।
प्रसन्नता दिखलाइये, उनका देख विवेक ।।
डिबिया का क्या मोल है, है हीरे का मोल ।
हीरे के गुण बोलते, गुणी देखते खोल ।।
गुण लेने मे था बड़ा, रघुपति का विश्वास ।
लछमन को भेजा न क्या, लकापति के पास ।।
चन्दन पर जो हों चढ़े, भले विषैले नाग ।
चन्दन-ग्राही पुरुष का, चन्दन से अनुराग ।।
कांटो से मतलब नही, जिसे चाहिए फूल ।
चुभ जाए जो शूल तो, है चुनने में भूल ।।
सीप भले सीधी न हो, मुक्ताफल है गोल ।
गुणग्राही की नजर में, होता गुण का मोल ।।
हँसक्षीर लेता न क्या, तज कर निर्मल नीर ।
गुण लेने की भावना, ले जाती भव तीर ।।

गुण लेना कठिन है

जौक रक्त ही चूसती, कब करती पय-पान ।
चाहे रहने को मिला, धेनु स्तनों का स्थान ।।
लिया दर्दुरों ने नही, कमलों का मकरंद ।
भले सरोवर मे रहे, वे न रसज्ञ अमन्द ।।
वन से आ अलि ले रहा, पद्म प्रसूत पराग ।
शंसनीय[1] अलिका न क्या, रस के प्रति अनुराग ।।

---

१ प्रशसा के योग्य

धार्मिकों के गुण

वीतराग प्रभु के नही, कही गुणों का अंत।
उनके दर्शन से हमे, होता लाभ अनन्त॥

क्षपक श्रेणि चढ़कर किया, मोह कर्म का अन्त।
धन्य-धन्य भगवंत जिन, धन्य-धन्य अरिहंत॥

जो जिन दर्शन पा रहे, धन्य-धन्य वे नेत्र।
जहा जिनेश्वर विचरते, धन्य-धन्य वे क्षेत्र॥

जिन होते जिस समय मे, धन्य-धन्य वह काल।
मोक्ष द्वार रहता खुला, होता धर्म-विशाल॥

जो जिन स्तुति मे निरत है, वह रसना गुणवान।
जिसे जीभ ऐसी मिली, उसका करो बखान॥

धन्य-धन्य निर्ग्रन्थ वे, जो है, समतावंत।
गिरि-गह्वर मे निडर, हो, जो भजते भगवंत॥

घोर तपस्या कर रहे, धन्य तपस्वी संत।
हुआ नही तप के बिना, कठिन कर्म का अंत॥

करते श्रुत आराधना, श्रुत अभ्यासी संत।
धन्य बनाते सरल जो, कठिन ज्ञान का पन्थ॥

बड़े भाग्यशाली श्रमण, जो देते उपदेश।
धन्य-धन्य परमार्थता, सहते कष्ट विशेष॥

धन्य जितेन्द्रिय पुरुष जो, शांत दाँत निर्भ्रान्ति।
गुण-ग्राहकता के लिए, निश्चित एक न प्रान्त॥

श्रमणोपासक धन्य वे, जो देते हैं दान।
दयालुता को दे दिया, जिनने ऊँचा स्थान॥

ब्रह्मचर्यव्रत पालते, वे नर-नारी धन्य।
मैथुन-विरमण व्रत सदृश, व्रत न यहाँ पर अन्य॥

श्रमणोपासक धन्य वे, जो दृढ़ श्रद्धास्थान।
आस्थावानों के न क्या, गुण गाते भगवान॥

उन पुरुषों को धन्य है, जो है सरल विनीत।
संस्कृति ने पाली न क्या, गुण की रीत-पुनीत॥

परोपकारी पुरुष का, करें सदा गुणगान।
स्वार्थ त्याग कितना कठिन, बतलाते विद्वान॥

धन्य धन्य वे नर यहाँ, जो आचरते सत्य।
औषधि गुणदायी अगर, गुणदायी है पथ्य॥

शंसनीय जीवन वही, जो संतोष - प्रधान।
होता रहता लोभ से, दुनिया का नुकसान॥

विद्वानों का हो रहा, अभिनन्दन अत्यन्त।
आदर करना ज्ञान का, सिखलाते हैं संत॥

बना बहुत बढिया वड़ा, धर्म-क्रिया का स्थान।
जहाँ सुनेंगे बैठकर, सतों का व्याख्यान॥

रजोहरण मुखवस्त्रिका, काष्ठ पात्र ये धन्य।
दया पालने के लिए, साधन बने अनन्य॥

सात्त्विक भोजन जो बना, संयम का आधार।
शंसनीय वह क्यों नही, मिला हुआ आहार॥

औदारिक तन का न क्यों माने हम उपकार।
जिसके द्वारा पहुँचते, भव्य जीव भव पार॥

राग : राधेश्याम

प्रमोव की प्रेरणा

नृप जितशत्रु पुरी चपा थी, कामदेव गाथापति था।
बहुत भद्र थी भद्राभार्या, कार्य प्रेम सुख धन अति था॥

जेष्ठ पुत्र को सोपा सारे, घर का भार तथा व्यापार।
साहूकारों के होते है, बहुत बडे आर्थिक-भण्डार॥
पौषधशाला में जा बैठा, आज्ञा लेकर स्वजनों की।
एक अवस्था मानी जाती, धर्म क्रिया की भजनों की॥

महान् उपसर्ग

मध्यरात्रि में मायावी सुर, इसे डिगाने को आया।
रूप बनाया राक्षस का डर, मर जाने का दिखलाया॥
धर्म छोड़ दे, शील छोड़ दे, वरना मारा जायेगा।
जायेगा यह जीवन प्यारा, कहाँ सहारा पायेगा॥
उठा नही तब असि से इसके, टुकडे टुकड़े उड़ा दिए।
विकुर्वणा सुरकी थी ऐसी, मानो फिर वे जुड़ा दिए॥
समभावों के साथ सहा सब, राग-द्वेष से हुआ न लिप्त।
दिप्त हुताशन घृत मिलने से, दुगुना होता यथा प्रदिप्त॥
अचलित असंभ्रांत स्थिर मौनी, रहा अभीत रहा अत्रस्त।
आत्मा अमर शरीर विनश्वर, सत्य सामने रहा समस्त॥
फिर हस्ती का रूप बनाया, दिखलाया मरने का डर।
कामदेव जैसा पहले था, बना रहा स्थिरता का घर॥
नभ मे इसे उछाला कुचला, पाँवों से अति देकर जोर।
कभी धर्म को छोड़ भागता, जो श्रावक होता कमजोर॥
भागा नही, नही व्रत त्यागे, जागरूक मन अधिक जगा।
हाथी ही हारा आखिर मे, अपनी सारी शक्ति लगा॥
रूप सर्प का बना लिया फिर, डँसने का डर दिखलाया।
कामदेव ने समझा है यह, मिथ्यात्वी सुरकी माया॥
काटा दाढाओं से लेकिन, कामदेव का डिगा न मन।
क्योंकि हुआ था शमरस द्वारा, राग-द्वेष का बहुत शमन॥

रूप सांप का छोड़ देवता, मूल रूप अब लेता है।
कामदेव को नमस्कार कर, धन्यवाद फिर देता है ॥
पुण्यशील तुम धन्य धन्य हो, कृतलक्षण हो और कृतार्थ।
मनुष्यत्व है सफल, धर्म का, तुमने ही पाय परमार्थ ॥
जैसा कहा इन्द्र ने उससे, अधिक खरे उतरे हो आप।
मैंने जो भी कष्ट दिये हैं, उन्हें हृदय से करदे माफ ॥
क्षमायाचना कर निर्जर[1] अब, चला गया है अपने स्थान।
कामदेव की स्थिरता दृढता, समता का करता गुण-गान ॥

प्रभु का पदार्पण

कामदेव ने सुना पधारे, हुए यहाँ पर है भगवान।
चंपा राजगृही दोनों ही, मानो बनी धर्म का स्थान ॥
सोचा प्रभुवर के दर्शन कर, फिर में पौषध पारूंगा।
धर्मदेशना सुन श्रीजिन की, जीवन अधिक सवारूंगा ॥
आया कामदेव, आई है, परिषद प्रभु के दर्शन को।
सूई से क्या सहा गया है, चुम्बकीय आकर्षन को ॥

सत्य की पुष्टि

प्रभु ने पूछा कामदेव से, निशि मे क्या ये आये कष्ट।
रहे अडिग तुम, गया देवता, सारी घटना कह दी स्पष्ट ॥
हाँ-हां ऐसे ही है प्रभुवर, जो भी फरमाते वह तथ्य।
प्रभु के द्वारा फरमाया भी, हो सकता क्या कभी असत्य ॥

ऐसे बनो

प्रभु ने अपने साधु-साध्वियो, को आमन्त्रित किया कहा।
देखो श्रावक कामदेव यह, कैसे कितना सुदृढ़ रहा ॥
ऐसे तुम सबको दृढ़ रहना, सहना जो आए उपसर्ग।
महाकाव्य कब बन सकता वह, जिसके कम हो, लघु हों सर्ग ॥

---

१ देवता

अपनी कलम

गुण लेना, गुण गाना सीखो, रखो भावना सदा प्रमोद।
इससे बढ़कर नहीं मिलेगा, इस जीवन में अन्य विनोद ॥
नही जानते हो तो जानो, अगर जानते उसे करो।
जितने ऊँचे चढ़े हुए हो, उससे नीचे मत उतरो ॥
आगे बढ़ने की इच्छाएँ, प्रबल करो फिर बढ़ो-चढ़ो।
बढ़े चढ़े जो लोग उन्हीं के, जीवन के संस्मरण पढ़ो ॥
मै क्या कहता हूँ, कहता है, बात यही सारा संसार।
गुण-ग्राहकता का गुण आये, पाये गुण ही गुण विस्तार ॥
गुणग्राहक जो नही मिलेगे, कौन यहां गुण गायेगा।
गुणी पुरुष बनने का बोलो, स्वाद कहाँ से आयेगा ॥
गुणी गुणी मिल ग्रहण करो गुण, रखो नही ईर्ष्या मन में।
गुणियों का सम्मिलन बहुत ही, कम होता है जीवन में ॥
"मुनि गणेश शास्त्री" का कहना, ठुकराने के योग्य नहीं।
किसी देवता से जा पूछो, क्या अमृत भी भोग्य नही ॥



: १५ :

कारुण्य-भावना

दयाभाव उपजे हृदय, देख जगत का कष्ट।
उत्तम करुणाभाव की, लो परिभाषा स्पष्ट॥
देख पराये कष्ट को जो खुद पाये कष्ट।
कहते हम करुणा इसे, लो परिभाषा स्पष्ट॥
दया नदी के तीर पर, पलते सारे धर्म।
छिपा हुआ सत्कर्म में दया धर्म का मर्म॥

15

कारुण्य-भावना

दोहा

करुणा का स्वरूप

पन्द्रहवी यह भावना, जिसमे है कारुण्य।
मिलता है कारुण्य से, धर्मों को तारुण्य ॥
दयाभाव उपजे हृदय, देख जगत का कष्ट।
उत्तम करुणा-भाव की, लो परिभाषा स्पष्ट ॥
देख पराये कष्ट को, जो खुद पाये कष्ट।
कहते हम करुणा इसे, लो परिभाषा स्पष्ट ॥
कष्ट निवारण के लिए, जो करता हो कष्ट।
कहते हम करुणा इसे, लो परिभाषा स्पष्ट ॥
कष्ट मानसिक साहजिक, दैहिक आर्थिक कष्ट।
कष्ट-हरण की प्रक्रिया, कहती करुणा स्पष्ट ॥
किया गया भयभीत को, पूर्णतया भयमुक्त।
अभयदान से सहित नित, अनुकम्पा उपयुक्त ॥
दया नदी के तीर पर, पलते सारे धर्म।
छिपा हुआ सत्कर्म में, दयाधर्म का मर्म ॥

ऐसा क्यो ?

दयावान बनते न क्यों, हिंसक प्राणी क्रूर।
क्यों ये जाते धर्म से, दूर-दूर अति दूर ॥

मिथ्याभाषी जन न क्यों, बोल रहे है सत्य ।
इन्हें सत्य प्यारा न क्यों, जैसे प्यारा पथ्य ।।

श्रमसेवी बनते न क्यों, छोड़ चोरियाँ चोर ।
क्या न रहा चोरी सिवा, धन्धा कोई और ।।

कब छूटेगा लोक से, परदारा का संग ।
क्यों फीका पड़ता भला, ब्रह्मचर्य का रंग ।।

होगा संग्रहवृत्ति का, क्या न सर्वथा नाश ।
इच्छाओं की पूर्ति का, असफल सकल प्रयास ।।

नीतिधर्म की पालना, क्या न करेंगे लोग ।
सफल न क्यों होते यहाँ, समताजन्य प्रयोग ।।

दु ख के प्रकार

क्रोध, कलह से हो रहा, स्वास्थ्य, धर्म का नाश ।
सहनशीलता पर नही, जनता का विश्वास ।।

तन-धन यौवन विभव का, कितना मन अभिमान ।
लोगों को है ही न क्या, नश्वरता का ज्ञान ।।

व्यर्थ बिछाया जा रहा, माया का मृदु जाल ।
फँसने वाले पर दया, करते दीन-दयाल ।।

खेत-गांव-पशु-धन-स्वजन,-स्त्री-सुत-हितकर क्रोध ।
लड़ने वालों को कहाँ, अपनेपन का बोध ।।

द्रव्योपार्जन के लिए, जाते लोग विदेश ।
तद्व्यय रक्षण हेतु है, कितने क्लेश-विशेष ।।

देखो पूछो जो सुनो, स्पष्ट कष्ट ही कष्ट ।
दिल में करुणा उमड़ती, लोग हुए पथ-भ्रष्ट ।।

होगा इनका क्या कभी, अधःपतन से अंत ।
लेते है ये अब न क्या, उसी तरह का पंथ ।।

तज सकते तृष्णा नही, तज सकते न कषाय ।
क्या इनके कल्याण का, ढूंढा जाय उपाय ।।
नास्तिकता तजते नही, व्यसन न तजते एक ।
डाला जाये कर्ण में, कैसे धर्म-विवेक ।।
तजते विकथाएँ नही, तजते विषय प्रमाद ।
इन्हे पूर्व-पर-जन्म की, कौन दिलाये याद ।।
दें उनको जो ध्यान से, सुनें धर्म उपदेश ।
इनके जीवन में नही, कही धर्म का लेश ।।

इतना करें

कुछ भी कर पाओ न जो, इतना करो विचार ।
कैसे हो पर दुःख का, मेरे से प्रतिकार ।।
इस चिन्तन में देखलो, स्वहित समाहित सत्य ।
औषधिदाता का दिया, लेना होता पथ्य ।।
क्षणभर मन स्थिर कर सुनो, जैनागम का सार ।
तुम पर करुणा उमड़ती, हमको बारम्बार ।।
वीतराग को मानिए, आप देव आराध्य ।
करती है करुणा हमे, यह कहने को बाध्य ।।
सच्चे गुरु जो चाहिए, तो ढूंढो निर्ग्रन्थ ।
करुणा कहती लोग क्यों, भूल रहे सत्पथ ।।
क्या अन्धे से पूछना, किधर जा रहा पंथ ।
विज्ञ सुज्ञ से पूछकर, लेलो लाभ अनन्त ।।
काम-वासनाएं नही, जब तक होती शांत ।
तब तक कैसे हो भला, आत्मिक सौख्य भवांत ।।
नम्र निवेदन पर नहीं, लोग दे रहे ध्यान ।
फिर भी रहना लोग पर, हमको करुणावान ।।

सुख कहाँ है ?

खान-पान की प्राप्ति हित, जग आकुल अत्यन्त ।
कष्ट सभी को दे रही, प्यासा क्षुधा अनन्त ।।

अशन बाद मे वसन की, चिन्ता करते दीन ।
लज्जा ढकने को नही, मिलता इक कोपीन ।।

चिन्ता यहाँ मकान की, करती सदा उदास ।
सोने उठने-बैठने, को न मिला आवास ।।

चिन्ता नारी प्राप्ति की, करते सारे लोग ।
मिलते मन इच्छित कहाँ, पंचेन्द्रिय सुख-भोग ।।

घर सूना सुत के बिना, सूना यथा श्मसान ।
कितना कष्ट उठा रहे, जो जन निःसंतान ।।

विनयवती न स्नुषा[1] मिली, मिला न सुत सुविनीत ।
कष्ट न क्या होता कहो, देख इन्हें विपरीत ।।

मिलती कही न नौकरी, कही न वेतन धाप ।
कष्ट अनेक प्रकार के, देता अपने पाप ।।

मनचाहा चलता नही, घर का कारोबार ।
कष्ट बड़ा होता न क्या, जाए डूब उधार ।।

सुता सयानी हो चली, सगपन हुआ न प्राप्त ।
कष्ट एक होता अगर, होता तुरत समाप्त ।।

सुत की माता मर गई, दूध मुँहा सुत छोड़ ।
प्रिया नई लेगी भला, पता नही क्या मोड़ ।।

है सारा संसार ही, कितना करुणा-पात्र ।
लिखती कवि की लेखिनी, वर्णन किंचितमात्र ।।

---

१ पुत्रवधू

करुणा के पात्र

अधिक दुखी अति दीन है, बालक यहाँ अनाथ।
जिनके सर से उठ गया, मात-पिता का हाथ ॥

वे बूढे अधमरे दुखी, साधन-स्वजन-विहीन।
सेवा-आश्रय ढूँढते, उदासीन बन दीन ॥

विधवा बहनों से गई, प्रसन्नता अति दूर।
अन्त पराभव का नही, लोग देखते घूर ॥

चक्षुविहीनों के लिए, सूना है संसार।
भारवहन के स्थान पर, बने हुए जो भार ॥

जिनके जीवन में लगे, प्राण-विघातक रोग।
खारे लगते हैं उन्हें, मिले हुए सुखभोग ॥

पशुओं को देखा न क्यों, ढोते किता भार।
वि-मना बन सहते सदा, अकुश मार प्रहार ॥

वध-बधन पाते यहाँ, जो पशु-पक्षी मूक।
सहनी पड़ती है इन्हें, कितनी-कितनी भूख ॥

इनकी करो सहायता, लाकर करुणा-भाव।
अति उत्तम माना गया, नर का दया-स्वभाव ॥

एक ऊँचा कारुण्य

अपराधी नर को न जो, देते दैहिक दंड।
करुणा देवी का वहाँ, शासन सत्य अखंड ॥

सह लेता गाली स्वयं, देता कभी न गाल।
सहनशीलता को लिया, करुणा ने संभाल ॥

महावीर की दया

महावीर प्रभु को दिए, संगम सुरने कष्ट।
प्रभु की करुणा-भावना, रही नही अस्पष्ट ॥

कष्ट सहे छह मास तक, गया देवता हार।
करुणापूर्वक सोचते, महावीर अवतार ।।
मुझे दुःख देकर किए, सुर ने भारी पाप।
इसको होंगे भोगने, नाटकीय संताप ।।
दुःख न अपने दुःख का, यह करुणा की धार।
धार न क्या तलवार की, करलो स्वच्छ विचार ।।

नेमिनाथ की दया

नेमिनाथ भगवान की, करुणा कितनी स्पष्ट।
पशुओं का रोना सुना, प्रभु ने पाया कष्ट ।।
कहा सारथी से मुड़ो, करना नहीं विवाह।
इन पशुओं ने क्या किया, मेरे लिए गुनाह ।।
दयावान भगवान वे, चले गए गिरनार।
करुणा के भंडार का, एक खोल कर द्वार ।।

गर्दभालि की दया

गर्दभालि मुनि ने दिया, संयति को उपदेश।
मेरे से भय है नही, रह तू अभय हमेश ।।
जीव मात्र को अभय दे, बन कर करुणावान।
जिन जीवों को मारता, क्या हैं वे बेजान ।।
संयति ने संयम लिया, छोड़ा वही शिकार।
छोटा सा समझो नही, करुणा का संसार ।।

राग : राधेश्याम

अपना-विचार

"मुनि गणेश शास्त्री" करुणा की, आदि नही है अत नहीं।
जीव अनंत अगर होते हैं, तो क्यो भाव अनंत नही ।।
दया करो दुखियों जीवों पर, सेवा सच्ची करो सहर्ष।
कलियुग में भी स्थापित कर दो, दया भाव का उच्चादर्श ।।

अनुकंपा समकित का लक्षण, व्यर्थ नही बतलाया है।
अनुकपा के लिए धर्म ने, अपना दांव लगाया है॥
मिटा सको तो दुःख मिटाओ, आंख मूंद कर चलो नहीं।
सहायता मांगेगा कोई, डरो नही फिर टलो नहीं॥
देने लायक देते जाओ, करने लायक काम करो।
दुखी बना करके औरों को, अपना मत बदनाम करो॥
तुलनात्मक चिन्तन मन्थन कर, करुणा भाव रखो मन में।
क्या विश्वास लिए बैठे हो, क्षणभंगुर इस जीवन में॥

□

तिसिद वा भुक्खिद वा, दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया, तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥

—प्रवचनसार २६।६

भूखे, प्यासे अथवा किसी दुखी प्राणी को देखकर जिसका मन दुखी हो गया है, ऐसा जो मनुष्य उसकी कृपा-बुद्धि से रक्षा व सेवा करता है, उसको अनुकम्पा होती है।

जह ते न पिय दुक्ख, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥

—भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक ९०

जिस प्रकार तुम्हे दुःख प्रिय नही हैं, उसी प्रकार सभी जीवो को नही है, ऐसा जानकर अत्यन्त आदर-भाव से सब जीवो को अपने समान समझकर उन पर दया करो।

: १६ :

माध्यस्थ्य-भावना

हुआ किसी के पुत्र जो, आप न करते हर्ष।
क्योंकि आप से है नहीं, सम्बन्धों का स्पर्श॥

मरा किसी का पुत्र जो, आप न करते शोक।
क्योंकि आप से है नहीं, सम्बन्धित सब लोक॥

16

माध्यस्थ्य-भावना

दोहा

माध्यस्थ्य की व्याख्या

सोलहवी शुभ भावना, सिखलाती माध्यस्थ्य ।
मिलता है माध्यस्थ्य से, उत्तम आत्मिक स्वास्थ्य ।।

नाम इसी का दूसरा, सुनो उपेक्षा-भाव ।
जहाँ अपेक्षाएँ नही, लेती कभी उठाव ।।

उदासीनता भी इसे, बतला सकते आप ।
प्रश्न नही रुचि अरुचि का, अर्थ हो गया साफ ।।

नया नाम निरपेक्षता, रखती हमे तटस्थ ।
वीतरागता के निकट, जा पाते छद्मस्थ ।।

विषयोपेक्षा है जहाँ, वहाँ शुद्ध वैराग्य ।
बनता है वैराग्य से, सद्गति का सौभाग्य ।।

उदित न औदासीन्य मे, कही राग या द्वेष ।
वीतरागता का इसे, क्यो न कहें परिवेष ।।

माध्यस्थ्य की भित्ति

इस दुनिया के लोक सब, कितने बड़े विचित्र ।
एक अधिक अपवित्र है, एक विशेष पवित्र ।।

भिन्न-भिन्न रुचि लोक की, भिन्न-भिन्न है कार्य ।
इसीलिए इस लोक में, मिलते आर्य-अनार्य ।।

चेष्टाओं की भिन्नता, कहती रम्य अरम्य ।
गति-मति-रति-नति लोक की, केवल-केवल गम्य ।।
किस किससे हम रुष्ट हों, किस-किस से संतुष्ट ।
महापुरुष माने किसे, किसे बताएँ दुष्ट ।।
अपने कहने से कही, नही सुधरता काम ।
व्यर्थ बोलकर क्यो करे, अपनी शांति हराम ।।
अपने शिष्य जमालि को, वीर न पाये रोक ।
सुधर नही पाते कभी, बहुत अधूरे लोक ।।
दे सकते उपदेश ही, प्रभुवर श्री अरिहन्त ।
नही किसी के कर्म का, नर पाते वे अत ।।
अपने ही पुरुषार्थ से, होता जन्म सुधार ।
लिए बिना देता नही, कोई माल उधार ।।
अपने ही पुरुषार्थ से, होता जन्म बिगाड़ ।
बिना दिखाए वैद्य क्या, देखा करता नाड़ ।।

माध्यस्थ्य के बाधक

किसी वस्तु की प्राप्ति जो, हो मन के अनुकूल ।
मन ही मन में क्यों नही, जग जायेगा फूल ।।
सुख माना करते न जो, पाकर स्थिति अनुकूल ।
दुःख उन्हे होता नही, पाकर स्थिति प्रतिकूल ।।
दु.ख जिन्हे होता नही, पाकर स्थिति प्रतिकूल ।
कैसे वे होगे दुखी, पाकर स्थिति अनुकूल ।।
जिसको पाकर देखकर, आता है अनुराग ।
करना होगा क्या नही, अत उसी का त्याग ।।
जिसको पाकर देखकर, अधिक उपजता द्वेष ।
उस स्थिति की संभावना, रहती नही हमेश ।।
रूप निरखते नेत्र ये, आतुरता के साथ ।
छुपी हुई इनमे न क्या, राग-भाव की बात ।।

रसना लेती अधिक रस, पा भोजन स्वादिष्ट।
इष्ट राग से हो रहा, अपना बहुत अनिष्ट॥
प्रसन्नता बढ़ती न क्या, पा प्रिय का संयोग।
हर्ष शोक दोनों न हो, ऐसे कितने लोग॥
अप्रसन्नता उपजती, पाकर स्थिति विपरीत।
उदासीनता को कभी, यह न सुहाती रीत॥
विषयों में सुख है कहाँ, सुख-दुख मन के भाव।
मन पर पड़ने दीजिए, विषयों का न प्रभाव॥
तटस्थता से काम लो, नही पडेगा बंध।
पुद्गल से जुड़ने न दो, आत्मा का सम्बन्ध॥
भोग भोगती इन्द्रियाँ, करे आप क्यों राग।
क्या न भोग को राग को, सौपा अलग विभाग॥

आपका क्या दोष

दोष-निवारण के लिए, शिक्षा देते आप।
जो न तजे नर दोष तो, नहीं आपको पाप॥
वधिक क्रूर पापी अगर, करते रहते पाप।
छुड़ा न पाते पाप तो, करे उपेक्षा आप॥
निन्दक निन्दा धर्म की, कर कर करते पाप।
उन्हें बदल सकते न जो, करे उपेक्षा आप॥
है छोटा पर व्यर्थ ही, बड़ा बताता नाप।
उसके लिए न बोलिए, करे उपेक्षा आप॥
व्यसन छुड़ा पाते नही, व्यसनी नर से आप।
बोलो इसमे आपको, क्या हो सकता पाप॥
क्रोधी नर के क्रोध को, करा न पाये शात।
दोष न इसमे आपका, आप बनो मत भ्रान्त॥
सके न जो विनयी बना, अभिमानी को आप।
शक्ति लगा कर आपने, किया कौनसा पाप॥

मायावी को सरल कर, दे न सके संस्कार ।
बुरा हुआ क्या आपका, किया हुआ व्यवहार ॥

बना न पाये समकिती, देकर के उपदेश ।
ऐसा मत समझो किया, हमने झूठा क्लेश ॥

जो न मानता आपके, हित शिक्षा के बोल ।
मोल घटा क्या आपका, देखो आँखे खोल ॥

करे न जन जो वंदना, दुख क्या पाते संत ।
उदासीनता का लिया, संतों ने सत्पंथ ॥

निन्दा सुनकर संत जन, कब करते संताप ।
करने वाले के लिए, होता केवल पाप ॥

सम्बन्ध मत रखो

मरा किसी का पुत्र जो, आप न करते शोक ।
क्योकि आपसे है नही, सम्बन्धित सब लोक ॥

हुआ किसी के पुत्र जो, आप न करते हर्ष ।
क्योंकि आप से है नही, सम्बन्धों का स्पर्श ॥

अर्थ किसी को जो मिला, आप न पाते अर्थ ।
लिए आपके है न क्या, हर्ष मनाना व्यर्थ ॥

हानि किसी को जो हुई, आपन देते अर्थ ।
लिए आपके है न क्या, शोक मनाना व्यर्थ ॥

मद्यपान कर नर कही, पड़ा हुआ बेहोश ।
आप वताएँ सोचकर, इसमें किसका दोष ॥

छेड़छाड़ कर सड़क पर खाता कोई मार ।
किसे कहो इस भार का [illegible] हकदार ॥

सजा सुनाता आ रहा, [illegible] ।
इसका अपने पास में [illegible]

अपने अपने कृत्य का, फल पाते सब लोग ।
हर्ष-शोक का क्यों करे, अपने लिए प्रयोग ॥
प्ररूपणा उत्सूत्र की, करते हैं जो सत ।
आता है उनके लिए, हमे खेद अत्यन्त ॥
समझाने पर भी नही, जो न मानते बात ।
उदासीनता के सिवा, है क्या अपने हाथ ॥
तज कर चिन्ता अन्य की, अपना घर सभाल ।
चिन्ता का क्या अत है, बहुत बड़ा जंजाल ॥
कहने वाला कौन तू करने वाला कौन ।
अपने ओरों के लिए, ले ली जाए मौन ॥

तटस्थता के स्तम्भ

गौशालक ने महावीर से, कहा सभा मे आ करके ।
मैं जिन हूं तुम नही जिनेश्वर, पूरा जोश बता करके ॥
प्रभु ने उसे उपेक्षित समझा, छेड़ा कोई नही विवाद ।
नही बोलने का होता है, एक और ही अनुपम स्वाद ॥

सिह और शूकर

एक सिह से शूकर बोला, मेरे साथ कीजिए युद्ध ।
बिना युद्ध के बुद्ध जनो का, छल-बल बनता कभी न शुद्ध ॥
बोला सिह, सुनो शूकर ! है क्या तुलना तेरी मेरी ।
कहाँ बाट एकानी का है, और कहाँ है पंसेरी ॥
बोला शूकर जाकर वन मे, कह दूंगा सबसे ऐसा ।
मैने हरा दिया है हरि को, अब वह वनराजा कैसा ॥
बोला सिह शीघ्र ही जाओ, कह दो जो कहना चाहो ।
अधिक देर मत रहो यहाँ पर, जो जीवित रहना चाहो ॥
सभी जानते हैं मेरे को, और अधिक मेरे बल को ।
सभी जानते है तेरे को, और अधिक तेरे बल को ॥

कहने से क्या होना-जाना, कहकर किया उपेक्षा-भाव ।
ओछेमन के ओछेपन का, पड़ा सिंह पर नही प्रभाव ॥

सुनो, पर लो नहीं

सुन लो गाली, मत दो गाली, करो न सग्रह गाली का ।
एक बार आनद लूटकर, देखो इस मन-खाली का ॥

भरा हुआ मन हो तो पूरा, बोला भी कब जाता है ।
जो कहने को सोच रखा हो, वह भी तो दब जाता है ॥

जो कुछ हुआ, हो गया उसको, रखो नही मन में भरकर ।
अजलि क्या जल भरकर रखती, खाली बनती झर-झर कर ॥

तन बोझिल बन जाने से ही, हो जाते हैं रोग अनेक ।
मन बोझिल बन जाने से क्या, रह सकता है सत्य विवेक ॥

प्रशस्ति

गुरु पुष्कर से जो मिला, श्रुत-सयम पाथेय ।
अत: उन्हें ही प्राप्त हो, मेरी कृति का श्रेय ॥
मेरे शिष्य जिनेन्द्र से, मिलता नित सहयोग ।
मूल्यांकन सहयोग का, स्वयं करेंगे लोग ॥
मदनगंज के संघ का, उत्तम धार्मिक रंग ।
श्रावक जन होते न क्या, चार तीर्थ के अंग ॥
पूर्ण हुआ इस क्षेत्र में, सरल भावना-बोध ।
"मुनि गणेश शास्त्री" इसे, कहता ज्ञानामोद ॥
कर्त्ता-यश जीवित रहे, कृति-जीवन के साथ ।
करना मंगल कामना, सदा स्वयं के हाथ ॥
भूल दृष्टिगत हो अगर, लेना उसे सुधार ।
विद्वज्जन होते सदा, अपने आप उदार ॥
दो हजार चौतीस का, सुखकर वर्षावास ।
"मदनगंज" में बढ़ रहा, जनता का उल्लास ॥

□□